NAMVAR SINGH KI ALOCHANA KA VISHLESHANATMAK ADHYAYAN

नामवर सिंह की आलोचना का विश्लेषणात्मक अध्ययन

Thesis submitted to
MAHATMA GANDHI UNIVERSITY, KOTTAYAM
for the award of the degree of
DOCTOR OF PHILOSOPHY

By

USHA NAIR
उषा नायर

Supervising Teacher

Dr. N.K. JOSEPH
डॉ. एन.के. जोसफ

P.G. & RESEARCH DEPT. OF HINDI.
ST. THOMAS COLLEGE, PALA

2006

DECLARATION

I hereby declare that this thesis entitled "NAMVAR SINGH KI ALOCHANA KA VISHLESHANATMAK ADHYAYAN" is a bonafide record of work carried out by me for the award of the degree of Doctor of Philosophy in the Faculty of Language and Literature of Mahatma Gandhi University, Kottayam and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any other University.

Date : 24.08.06

Usha Nair
Research Scholar
P.G. & Research Dept. of Hindi
St. Thomas College, Pala.

CERTIFICATE

This is to certify that this thesis entitled 'NAMVAR SINGH KI ALOCHANA KA VISHLESHANATMAK ADHYAYAN' is a bonafide record of work carried out by Smt. Usha Nair under my supervision for the award of the degree of Doctor of Philosophy in the Faculty of Language and Literature of Mahatma Gandhi University, Kottayam and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any other University.

Date: 24-08-06

Dr. N.K. Joseph
Supervising Teacher
P.G. & Research Dept. of Hindi,
St. Thomas College, Pala,
Kottayam Dt., Kerala

ABSTRACT OF THE THESIS

शोध प्रबन्ध का सार-संक्षेप

शीर्षक - नामवर सिंह की आलोचना का विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. नामवर सिंह की सात अतिमहत्वपूर्ण रचनाओं के विश्लेषणात्मक अध्ययन द्वारा, आलेचक के रूप में उनके वैशिष्ट्य की पडताल करना तथा हिन्दी साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में उनके अवदान का मूल्यांकन करना इस शोध-कार्य का उद्देश्य है।

अध्याय एक : आलोचना की विरासत

हिन्दी में आलोचकीय प्रतिभाओं के विकास एवं नामवर सिंह के आलोचना-विवेक की पृष्ठभूमि का उल्लेख - संस्कृत के प्रमुख काव्य-शास्त्रीय संप्रदायों, रीतिकालीन, भारतेन्दु युगीन एवं द्विवेदी युगीन आलोचना का सर्वेक्षण - विशुद्ध समालोचना का आरंभिक दौर : शुक्ल युग- शुक्लोत्तर आलोचना-त्रयी नंददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं डॉ. नगेन्द्र - छायावादी कवियों की आलोचना दृष्टि - प्रमुख प्रगतिवादी आलोचकों की समीक्षा पद्धति का उल्लेख - हिन्दी आलोचना- साहित्य की समृद्ध परंपरा के आलोक में नामवर जी की रचनात्मकता की परख।

अध्याय दो : नामवर सिंह : आलोचक-प्रतिभा का विकास

अध्यापक, आलोचक, संपादक, वक्ता के रूप में डॉ.नामवर सिंह की बहुमुखी प्रतिभा की अनुप्रेरक परिस्थितियों की पडताल - पत्रिका संपादन के क्षेत्र में नामवरजी का महत्व - आलोचनात्मक ग्रंथों का सर्वेक्षण - वक्ता नामवर - आलोचना के विविध आयाम : नामवर जी का चिंतन पक्ष - नामवर जी का भाषागत वैशिष्ट्य।

अध्याय तीन : काव्यालोचना की नई सरणियों की खोज और स्थापना

आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ - छायावाद - इतिहास और आलोचना - कविता के नए प्रतिमान - दूसरी परंपरा की खोज - वाद विवाद संवाद की कविता संबंधी

विवेचनाओं का अध्ययन - पाठकों के काव्यगत पूर्वग्रहों को तोडने, कविता के अर्थ विश्लेषण की प्रक्रिया का पथप्रशस्त करने आदि नामवर जी की काव्यालोचना के महत्व का अंकन।

अध्याय चार : कथालोचना की नई परंपरा और नामवर सिंह

कहानी : नई कहानी के मूलभूत प्रतिमानों की पडताल - कथालोचना के क्षेत्र में आस्वादन के विस्तृत परिदृश्य की संभावनाओं का अन्वेषण - पाठ विश्लेषण - कथालोचन के क्षेत्र में डॉ. नामवर सिंह के योगदान की चर्चा।

अध्याय पाँच : मार्क्सवादी साहित्यिक प्रतिमान और डॉ.नामवर सिंह की आलोचना पद्धति

मार्क्सवादी साहित्यिक प्रतिमानों की पडताल - प्रमुख मार्क्सवादी विचारकों के कला-साहित्य संबंधी विचारों का उल्लेख - प्रगतिवादी समीक्षकों की समीक्षा दृष्टि - मर्क्सवादी साहित्यिक प्रतिमानों की स्वीकृति और नामवर सिंह की आलोचना- प्रत्यालोचना।

निष्कर्ष और उपसंहार

प्रतिबद्ध आलोचक का दोहरा संघर्ष- बृहत्तर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य - समसामयिक बोध - सर्जनात्मकता में आस्था - लोकोन्मुखता - प्रस्तुत शोधाध्ययन : प्रयोजन की दृष्टि से - निष्कर्ष।

□

अनुक्रम

पृष्ठ-संख्या

अध्याय - एक 1 - 42

आलोचना की विरासत

संस्कृत के प्रमुख काव्यशास्त्रीय सिद्धांत अथवा संप्रदाय - रीतिकालीन आचार्यों की आलोचना पद्धति - भारतेन्दु युगीन आलोचना - द्विवेदी युगीन आलोचना - शुक्ल युग : विशुद्ध आलोचना का आरंभिक दौर - छायावादी कवियों की आलोचना दृष्टि - शुक्लोत्तर आलोचना - प्रगतिवादी आलोचना - आलोचक नामवर सिंह।

अध्याय - दो 43 - 87

नामवर सिंह : आलोचक - प्रतिभा का विकास

व्यक्तित्व गठन : अनुप्रेरक परिस्थितियाँ - नामवर सिंह का आलोचना साहित्य : एक सर्वेक्षण - नामवर सिंह और 'आलोचना' का संपादकत्व - आलोचना के विविध आयाम : नामवर जी का चिंतन पक्ष - नामवर जी की वक्तृता शैली - नामवर सिंह की भाषा।

अध्याय - तीन 88 - 124

काव्यालोचना की नयी सरणियों की खोज और स्थापना

वैचारिक तेजस्विता की प्रथम रश्मि : 'छायावाद' - हिन्दी के इतिहास सम्मत वादों का विश्लेषण : 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' - वैचारिक संघर्ष का दस्तावेज : 'इतिहास और आलोचना' - कालजयी काव्यालोचना : 'कविता के नये प्रतिमान' लोकोन्मुखी प्रगतिशील परंपरा की पहचान : 'दूसरी परंपरा की खोज' - समकालीन साहित्यिक और सांस्कृतिक परिदृश्य की पडताल : 'वाद-विवाद-संवाद' - निष्कर्ष ।

पृष्ठ-संख्या

अध्याय - चार 125 - 153

कथालोचना की नयी परंपरा और नामवर सिंह

हिन्दी कथालोचना का आरंभिक दौर और नामवर सिंह की कहानी समीक्षा - कहानी में नवीनता - नयी कहानी : ऐतिहासिक नवीनता एवं उपलब्धियाँ - नयी कहानी : संप्रेषणीयता और प्रभावान्विति - भावुकता का विरोध - पाठक वर्ग और रसास्वादन का विस्तृत परिदृश्य - कथालोचना और पाठ प्रक्रिया - चुनी हुई कहानियों का पाठ विश्लेषण - कथालोचना से विमुखता - निष्कर्ष।

अध्याय - पाँच 154 - 202

मार्क्सवादी साहित्यिक प्रतिमान और नामवर सिंह की आलोचना पद्धति

प्रमुख मार्क्सवादी विचारकों के कला-साहित्य संबंधी विचार - हिन्दी में प्रगतिवादी साहित्य के प्रस्थान बिंदु - डॉ. नामवर सिंह के पूर्ववर्ती प्रमुख मार्क्सवादी आलोचकों की समीक्षा दृष्टि - मार्क्सवादी आलोचना सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में डॉ. नामवर सिंह के साहित्य की प्रत्यालोचना - निष्कर्ष।

उपसंहार 203 - 213

संदर्भ ग्रंथ सूची 214 - 227

पुरोवाक्

पुरोवाक्

डॉ. नामवर सिंह हिन्दी आलोचना के शिखर-पुरुष माने जाते हैं। उत्तर प्रदेश सरकार ने हाल ही में उन्हें 'भारत-भारती पुरस्कार' देने की घोषणा की है, जो उनकी रचनाशीलता का सम्मान है तथा केन्द्र सरकार ने उन्हें 'महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय' का कुलाधिपति मनोनीत किया है, जो उनकी क्रियाशीलता की संपुष्टि है। बीसवीं सदी के छठे दशक से हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में उनकी सक्रिय हिस्सेदारी रही है। आज भी उनमें नये से नये विचारों को आत्मसात करने की अद्वितीय क्षमता बरकरार है। अपने चिंतन को साहित्यिक रूढियों और पूर्वग्रहों से मुक्त रखने की क्षमता में ही उनकी विलक्षणता है।

नामवर जी हिन्दी साहित्य की सबसे विवादास्पद हस्ती हैं। 'रणनीतिक आलोचक', 'साहित्यिक डॉन', 'सर्जक योद्धा' जैसे शब्द उनके लिये प्रयुक्त किये जा चुके हैं। समकालीन साहित्यिक परिदृश्य में उनकी अपराजेय उपस्थिति अपने मौलिक विचारों के कारण है। विवाद छिडने पर उनके ये विचार सान चढते हैं और भाषा तदनुरूप धारदार हो जाती है। इसीलिए वे वाद-विवाद-संवाद के आचार्य माने जाते हैं।

नामवर जी के लेखन से मेरा पहला परिचय 'दूसरी परंपरा की खोज' के माध्यम से हुआ। इसमें एक वैकल्पिक सौंदर्य दृष्टि की खोज है; भारतीय साहित्य की उस दूसरी परंपरा की खोज है, जो कालप्रवाह में भले ही गौण हो गई हो, किंतु क्रांतिकारी परंपरा यही है। उनकी अन्य रचनाओं को पढने पर ज्ञात हुआ कि हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में जब जीवन निरपेक्ष साहित्य का बोलबाला था तो उन्होंने जीवन सापेक्ष कलात्मकता का पक्ष लिया और

जब भोंडे समाजशास्त्र का प्रभुत्व स्थापित होता दिखाई दिया तो वे कला के पक्ष में संघर्षरत रहे। उन्हें विवादों के केन्द्र में बनाये रखनेवाली उनकी इसी विशेषता के कारण मुझमें उनकी रचनाओं के विश्लेषणात्मक अध्ययन की रुचि जाग्रत हुई। इस संबंध में आदरणीय गुरुवर डॉ.एन.के. जोसफ से चर्चा की तो उन्होंने इस विषय को शोध कार्य के लिए पूर्णत: उपयुक्त बताया और शोध-निर्देशक बनने की सहमति भी दी।

नामवर जी जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय के 'भारतीय भाषा केन्द्र' के निदेशक एवं विभागध्यक्ष रह चुके हैं। अपना शोध-कार्य व्यवस्थित रूप से आरंभ करने से पूर्व मुझे उनके कतिपय सहअध्यापकों और छात्रों से मुलाकात और विचार विमर्श का सुअवसर प्राप्त हुआ। वे सभी इस बात पर एकमत प्रतीत हुए कि नामवर जी के विचारों में गणितीय संगति प्राप्त करना मुश्किल है, अत: उनकी रचनाशीलता के संबंध में अंतिम निष्कर्ष पर पहुँचना दुष्कर कार्य होगा। अपने शोध विषय की जटिलता से पूर्णत: अवगत होते हुये भी इस दिशा में आगे बढने का साहस मुझे अपने गुरुवर श्री. माधवन पिल्लै जी के इस उपदेश से प्राप्त हुआ कि किनारे पर खडे रहनेवालों को मौक्तिक कोष प्राप्त नहीं होता। यह शोधाध्ययन उस कोष तक पहुँचने का विनम्र प्रयास है।

नामवर जी के पचहत्तरवें वर्षगाँठ के अवसर पर कुछ पुस्तकों का संपादन-प्रकाशन किया जा चुका है जिसमें उनके व्यक्तित्व की पडताल करनेवाले लेख, उनकी पुस्तकों की समीक्षा तथा उनकी स्थापनाओं से असहमति प्रकट करनेवाले प्रत्यालोचनात्मक लेख संकलित है किंतु जहाँ तक डॉ. नामवर सिंह के आलोचना साहित्य के विश्लेषणात्मक अध्ययन का संबंध है, इस दिशा में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध एक मौलिक प्रयास है। नामवर जी का रचना-संसार अत्यंत समृद्ध है। उनके शोध ग्रंथों, 'आधुनिक

साहित्य की प्रवृत्तियाँ' से लेकर 'आलोचक के मुख से' तक के आलोचनात्मक ग्रंथों, साक्षात्कारों, तमाम व्याख्यानों और 'आलोचना' पत्रिका के संपादकीयों में उनकी आलोचकीय मेधा का प्रसार देखा जाता है। इनमें से, अपनी क्षमता के अनुसार यथासंभव अधिकाधिक सामग्री का अनुशीलन करते हुये भी मैं ने अपने शोध प्रबंध को निम्नलिखित आठ पुस्तकों की स्थापनाओं पर केन्द्रित किया है- (1) आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ (2) छायावाद (3) इतिहास और आलोचना (4) कहानी : नई कहानी (5) कविता के नए प्रतिमान (6) दूसरी परंपरा की खोज (7) वाद विवाद संवाद (8) कहना न होगा। उनकी सद्यप्रकाशित रचनाओं 'आलोचक के मुख से' तथा 'काशी के नाम' को इस अध्ययन में शामिल नहीं किया जा सका क्योंकि इनका लोकार्पण जुलाई 2006 में ही संपन्न हुआ।

'नामवर सिंह की आलोचना का विश्लेषणात्मक अध्ययन' मेरा शोध विषय है। अध्ययन की सुविधा के लिये उपसंहार सहित इसके छः अध्याय निर्धारित किए गए हैं-

प्रथम अध्याय है *'आलोचना की विरासत'*। इस अध्याय के अंतर्गत नामवर जी के पूर्ववर्ती प्रमुख आलोचकों के योगदान पर प्रकाश डाला गया है। संस्कृत के काव्यशास्त्रीय संप्रदायों का उल्लेख करते हुये हिन्दी आलोचना की विकास यात्रा को प्रतिपादित किया गया है।

द्वितीय अध्याय है *'नामवर सिंह : आलोचक प्रतिभा का विकास'*। नामवर जी बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी है। हिन्दी के पुरोधा आलोचक होने के साथ ही, समर्थ वक्ता, सफल संपादक और समर्पित अध्यापक के रूप में उन्होंने विविध साहित्यिक एवं साहित्येतर धरातलों पर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। अध्याय के पहले भाग में इस

बहुमुखी व्यक्तित्व की अनुप्रेरक परिस्थितियों का अनुशीलन किया गया है। आगे नामवर जी की प्रमुख आलोचनात्मक कृतियों का परिचय देते हुये उनके वैचारिक विकास पर प्रकाश डाला गया है। 'आलोचना' पत्रिका का संपादकत्व भी उनके आलोचक व्यक्तित्व का प्रभावशाली पहलू है। उनके संपादक रूप के महत्व को रेखांकित किया गया है। नामवर जी के वक्ता पक्ष का उल्लेख करते हुये उनकी भाषागत विशेषताओं पर रोशनी डाली गई है।

तृतीय अध्याय है *'काव्यालोचना की नई सरणियों की खोज और स्थापना'*। 'कहानी : नई कहानी' को छोडकर नामवर जी की अन्य सभी कृतियाँ मुख्यत: कविता पर ही केन्द्रित हैं। काव्यालोचना पर गहराई से विचार करते हुए उन्होंने सुसंगत प्रतिमानों को प्रस्तुत किया है। जीवन और उसके समानान्तर काव्य तथा काव्य मूल्यों की परिवर्तनशीलता को उद्घाटित करना ही उनकी काव्यालोचना की मूल प्रतिज्ञा है। कविता की समीक्षा से संबंधित नामवर जी के लेखन का विश्लेषण इस अध्याय में किया गया है।

चतुर्थ अध्याय है *'कथालोचना की नई परंपरा और नामवर सिंह'*। कविता के क्षेत्र तक सीमित आलोचना को कहानी के क्षेत्र तक फैलाने का कार्य नामवर जी ने किया। कलाकृति के रूप में कहानी की अखंडता को प्रमाणित कर, उन्होंने कथालोचना के क्षेत्र में पाठक की अतिमहत्वपूर्ण भूमिका की चर्चा की। कहानी की पाठ-प्रक्रिया, उसकी आलोचना के प्रतिमानों के संबंध में नामवर जी के विचारों का अनुशीलन इस अध्याय में किया गया है।

पंचम अध्याय है *'मार्क्सवादी साहित्यिक प्रतिमान और नामवर सिंह की आलोचना पद्धति'*। प्रमुख मार्क्सवादी विचारकों के कला साहित्य संबंधी विचारों पर प्रकाश डाला गया है। हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद के उद्भव तथा प्रमुख प्रगतिवादी समीक्षकों के

साहित्य सिद्धांतों की चर्चा की गई है। इस परिप्रेक्ष्य में नामवर जी के आलोचना साहित्य की प्रत्यालोचना की गई हैं।

अंतिम अध्याय है *'निष्कर्ष और उपसंहार'*। इस में हिन्दी आलोचना की मुख्य धारा में नामवर जी के अवदान को रेखांकित किया गया है। आलोचक के रूप में उनके वैशिष्ट्य की पडताल के निष्कर्ष इस अध्याय में संकलित है।

प्रस्तुत शोध-कार्य आदरणीय डॉ.एन.के. जोसफ (भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी स्नातकोत्तर एवं शोध विभाग, सेंट थॉमस कालेज, पाला) के कुशल मार्ग-दर्शन में संपन्न हुआ है। पग-पग पर दिये गये उनके बहुमूल्य सुझावों के अभाव में यह शोध कार्य असंभव था, अत: मैं उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ।

सेंट थॉमस कालेज, पाला के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ.के.एम. माथ्यू जी के प्रोत्साहन और सहयोग के लिये मैं उन्हें कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। सेंट तेरेसास कालेज की भूतपूर्व प्रिंसिपल आदरणीय सिस्टर टेसा तथा भूतपूर्व हिन्दी विभागाध्यक्षा डॉ. शान्ता कुमारी के प्रति भी मैं श्रद्धावनत हूँ जिन्होंने शोध कार्य के लिए सदैव प्रोत्साहित किया है। हिन्दी विभाग की अपनी सहअध्यापिकाओं को भी इस अवसर पर मैं ध्न्यवाद देना चाहूँगी।

आगे कुछ ऐसे लोगों का नामोल्लेख करना चाहूँगी जो मेरे जीवन की हर सफलता में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भागीदार है। मेरे पिता श्री. गोपिनाथन नायर, माता श्रीमती राधा नायर एवं चाचा जी श्री. राधाकृष्णन नायर, जिनके अशीर्वाद और प्रोत्साहन को मैं ने जीवन की हर मुश्किल परिस्थिति में महसूस किया है। मेरे गुरुवर श्री. माधवन पिल्लै जी, जिनसे मैं ने शब्द-विवेक पाया, साहित्यिक समझ पाई। मेरे पति श्री. उमाशंकर, भाई श्री. उण्णी नायर,पुत्र सूरज तथा सिद्धार्थ,जो मेरी कामयाबी के लिए मुझसे ज्यादा इच्छुक है।

मेरे प्रिय मित्र डॉ. लता नायर, श्रीमती रेनुका एस., डॉ. रीना जोस तथा डॉ. टेसी जॉर्ज, जिन्होंने हमेशा मेरा हौसला बढाया है।

अपार कृतज्ञता उस सर्वशक्तिमान के प्रति जिसने इन सभी सकारात्मक शक्तियों को मेरे जीवन का हिस्सा बनाया।

16 08 2006 उषा नायर

अध्याय - एक

आलोचना की विरासत

आलोचना की विरासत

- संस्कृत के प्रमुख काव्यशास्त्रीय सिद्धांत अथवा संप्रदाय
- रीतिकालीन आचार्यों की आलोचना पद्धति
- भारतेन्दु युगीन आलोचना
- द्विवेदी युगीन आलोचना
- शुक्ल युग- विशुद्ध आलोचना का आरंभिक दौर
- छायावादी कवियों की आलोचना दृष्टि
- शुक्लोत्तर आलोचना
- प्रगतिवादी आलोचना
- आलोचक नामवर सिंह

आलोचना की विरासत

हिन्दी आलोचना का विकास- नामवर सिंह तक

गद्य की विविध अन्य विधाओं के समान ही 'समालोचना' का आरंभ भी भारतेन्दु-युग से ही माना जाता है। इससे पूर्व संस्कृत साहित्य में आलोचना की अत्यंत दीर्घ और सुविकसित परंपरा विद्यमान है। आधुनिक हिन्दी आलोचना इसके प्रभाव से मुक्त नहीं है। प्रमुख आलोचकों, विशेषकर डॉ. नामवर सिंह ने साहित्य के प्रतिमान निर्धारित करते समय संस्कृत काव्यशास्त्र संबंधी अपने गहन अध्ययन का परिचय दिया है। अत: नामवर जी के संबंध में आलोचना की विरासत का अनुसंधान, संस्कृत काव्यशास्त्र का उल्लेख किये बिना अपूर्ण होगा।

संस्कृत के प्रमुख काव्यशास्त्रीय सिद्धांत अथवा संप्रदाय

काव्य की 'आत्मा' अथवा उसके सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व को निश्चित करने के लिये काव्य समीक्षा के सिद्धांतों और संप्रदायों की स्थापना की गई।

'रीति सिद्धांत' के प्रर्वक आचार्य वामन हैं। रीति का तात्पर्य 'विशिष्ट पद रचना' माना गया है, यह विशिष्टता गुणों पर आधारित रहती है अत: इसे गुण सिद्धांत भी कहा गया है। वामन ने ही 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर, उसे काव्य की आत्मा घोषित कर एक विशिष्ट काव्य संप्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित किया था। उन्होंने रीति के तीन भेद स्वीकार किये थे- वैदर्भी, गौडी और पांचाली।

'ध्वनि-सिद्धांत' के प्रतिष्ठाता आचार्य आनंदवर्द्धन माने जाते हैं। इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' के माध्यम से 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा घोषित किया था। उन्होंने ध्वनि को परिभाषित करते हुये कहा है-

यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थो।

व्यक्त: काव्यविशेष: स ध्वनिरिति सुरिभि: कफित: ॥

"जहाँ अर्थ स्वयं को अथवा शब्द अपने को गुणीभूत करके उस अर्थान्तर विशेष को अभिव्यक्त करे वह काव्य भेद वैयाकरणों द्वारा ध्वनि के नाम से पुकारा जाता है।"

अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शब्द-शक्तियों में ध्वनिवादी केवल व्यंजना को उत्कृष्ट काव्य का मूलाधार कहते हैं। आनंदवर्द्धन के उपरांत अभिनवगुप्त, आचार्य मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों की देन महत्वपूर्ण है। केशव और चिन्तामणि हिन्दी में ध्वनि के प्रतिष्ठापक माने जाते हैं।

'अलंकार संप्रदाय' के प्रवर्तक आचार्य भामह माने जाते हैं। उन्होंने 'काव्यालंकार' ग्रंथ के माध्यम से अलंकार को काव्य की आत्मा घोषित किया और इस प्रकार 'अलंकार संप्रदाय' की स्थापना हुई। उन्होंने अलंकारों की संख्या 38 निश्चित की। हिन्दी में रीतिकाल अलंकारों के प्रयोग की दृष्टि से उत्कर्ष काल था।

'वक्रोक्ति संप्रदाय' के प्रवर्तक 'वक्रोक्ति जीवितम्' नामक ग्रंथ के रचयिता आचार्य कुन्तक माने जाते हैं। उनका कथन है-

शब्दार्थौ सहितौ वक्र कविव्यापारशालिनि।

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥

वक्रोक्ति का अर्थ है विलक्षण या लोकातिक्रान्ति उक्ति। दूसरे शब्दों में, कथन-भंगिमा।

कुन्तक ने वक्रोक्ति के छः भेद माने हैं-

(1) वर्ण विन्यास वक्रता (2) पद-पूर्वार्द्ध वक्रता (3) पद-परार्द्ध वक्रता (4) वाक्य वक्रता (5) प्रकरण वक्रता (6) प्रबन्ध वक्रता।

'औचित्य सिद्धांत' आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचार चर्चा' नामक ग्रंथ के माध्यम से 'औचित्य संप्रदाय' की स्थापना की। आचार्य ने काव्य के संपूर्ण अंगों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन करते हुये औचित्य के 28 अंग या भेद निर्धारित किये, जो शब्द, काव्यशास्त्रीय तत्व, परिस्थिति और चरित्र से संबंधित हैं।

'रस सिद्धांत' के आदि प्रणेता नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत मुनि माने जाते हैं। उनका रस संबंधी मूल सूत्र है- "विभावानुभाव संचारी संयोगाद्रसनिष्पत्ति'। भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक, अभिनवगुप्त, विश्वनाथ, भोजराज, पण्डितराज, जगन्नाथ आदि विद्वानों ने 'रस' को काव्य की आत्मा स्वीकार कर रस सिद्धांत को दृढता प्रदान की। रस सिद्धांत पर ग्रंथ प्रणयन की प्रक्रिया।7 वीं शती से लेकर आधुनिक काल तक देखी जा सकती है। रीतिकाल में केशवदास की 'रसिकप्रिया', चिंतामणि की 'कविकल्पतरु', तोष की 'सुधानिधि', मतिराम की 'रसराज', देव की 'शब्द रसायन' आदि उल्लेखनीय पुस्तकें हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की 'रसमीमांसा', नगेन्द्र की 'रस सिद्धांत', डॉ. निर्मला जैन की 'रस सिद्धांत और सौंदर्य शास्त्र' आदि आधुनिक साहित्यकारों के रस सिद्धांत पर गंभीरतापूर्वक चिंतन के परिणाम हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्यों की प्रतिभा के सबल पक्ष से लेकर उसके निर्बल पक्ष तक प्रकाश डालते हुए अष्टभुजा शुक्ल अपने लेख 'संस्कृत काव्य-शास्त्र और हिन्दी आलोचना की यहाँ वहाँ' में लिखते हैं- "देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत में काव्यशास्त्र की व्यापक परंपरा नाट्यशास्त्र से लेकर रसगंगाधर तक अव्याहृत रूप में फैली हुई है। सहस्राधिक वर्षों के इस आलोचकीय इतिहास में लोक और शास्त्र के सूक्ष्म एवं गहन पर्यवेक्षण, काव्य संस्कार, काव्य के उद्भव एवं उसके स्वरूप तथा मूलतत्व की खोज पर सम्यक ढंग से विमर्श हुआ है जो रस निष्पत्ति से आरंभ होकर रस निष्कर्ष की पराकाष्ठा में पर्यवसित होता है। इसमें रचनात्मक एवं आलोचकीय विवेक के वे सूत्र विन्यस्त हैं जिनसे काव्य का पारदर्शी विवेचन एवं बोध संभव है। कारिकाओं एवं आचार्य रचित पद्योदाहरणों से इस बात का प्रत्यय होता है कि इन काव्यशास्त्रियों में यदि काव्यापाक न भी रहा हो तो भी पूर्ण काव्याभास अवश्य रहा है अर्थात् वे आलोचक एक सहृदय पाठक एवं कविमना अवश्य थे। आचार्य दण्डी जैसा काव्यशास्त्री एक अच्छा रचनाकार तथा पण्डित जगन्नाथ जैसा कवि एक उत्कृष्ट काव्यशास्त्री रहा है। सौंदर्य को ही अलंकार सिद्ध करने वाले वामन से लेकर काव्य के प्रतियमान व्यंग्यार्थ का भाष्य करने वाले आचार्यवर्द्धन तक की लम्बी श्रृंखला संस्कृत साहित्य के काव्य विवेचन में दायित्व के साथ कार्यरत रही है। किंतु ये काव्यालोचक रचनाओं में वर्णित जीवन की धडकन एवं उसके विवरण को, रचनाकारों के मन्तव्य एवं उसके परिवेश को, जीवन की दुरूहताओं एवं उसके संघर्ष को व्याख्यायित करने से अवश्य चूक गए हैं।"[1]

---

1. वर्तमान साहित्य : शताब्दी आलोचना पर एकाग्र, भाग 2, अंक 6 जून 2002

रीतिकालीन आचार्यों की आलोचना पद्धति

यह आलोचना काफी हद तक संस्कृत काव्यशास्त्र पर ही आधारित थी। केशव, चिंतामणि, कुलपति, भिखारीदास आदि कवियों ने काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की रचना की, किंतु उनमें मौलिकता का अभाव था। अत: आलोचकों ने मध्यकालीन हिन्दी समीक्षा को अधिक से अधिक संस्कृत काव्यशास्त्र के पद्यानुवाद के सीमित प्रयास के रूप में स्वीकार किया है। रीतिकाल के आचार्य लक्षणकार होते थे और उदाहरण प्रस्तुत करते समय कविता करते थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकालीन काव्यशास्त्र की सीमाओं की ओर संकेत करते हुये लिखा है- "इस एकीकरण (आचार्यत्व और कवित्व) का प्रभाव अच्छा नहीं पडा। आचार्यत्व केलिये जिस सूक्ष्म विवेचन एवं पर्यालोचन शक्ति की अपेक्षा होती है उसका विकास नहीं हुआ। कवि लोग दोहे के अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कवि कर्म में प्रवृत्त हो रहे थे। काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खण्डन-मण्डन, नये नये सिद्धांतों का प्रतिपादन आदि कुछ भी न हुआ। इसका कारण यह भी था कि उस समय गद्य का विकास नहीं हुआ था। जो कुछ लिखा जाता था वह पद्य में ही लिखा जाता था। पद्य में किसी बात की सम्यक् मीमांसा या उस पर तर्क वितर्क नहीं हो सकता। इस अवस्था में 'चन्द्रलोक' की यह पद्धति ही सुगम दिखाई पडी कि एक श्लोक या एक चरण में ही लक्षण कहकर छुट्टी मिली।"[2]

भारतेन्दु युगीन आलोचना

भारतेन्दु युग में गद्य की अन्य अनेक विधाओं के समान ही आलोचना का भी नवीनीकरण हुआ। साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी बदली और हिन्दी आलोचना में युगान्तर उपस्थित हुआ। आलोचना के क्षेत्र में आयी इस आधुनिकता का विश्लेषण

---

2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.129

नन्ददुलारे वाजपेयी इस प्रकार करते हैं- " भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से स्थिति में परिवर्तन हो चला। आँखें खुली और यह आभासित हुआ कि रस किसी छन्द में नहीं है, वह तो मानव संवेदना के विस्तार में है। नायक-नायिका कविजी की कल्पना में निर्माण होने के लिये नहीं हैं, प्रगतिशील संसार की नानाविध परिस्थितियों और सुख-दुख की तरंगों में डूबने उतरने और घुलकर निखरने के लिये हैं और काव्य कला का सौष्ठव भी अनुभूति की गहराई में है, शब्द कोष के पन्ने उलटने में नहीं।"[3]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र- भारतेन्दु युग में 'नाटक' विधा अत्यंत लोकप्रिय हुई। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने मौलिक नाटकों की रचना के साथ ही संस्कृत, बंगला आदि नाटकों के अनुवाद किये। नाटककार भारतेन्दु ने बदलते युग की माँग के अनुसार नाट्य रचना में भी नवीनता का आग्रह किया। वे प्राचीन तथा नवीन अर्थात् भारतीय और पाश्चात्य दोनों नाट्य तत्वों के योग से एक आधुनिक नाट्यशास्त्र चाहते थे। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने 'नाटक अथवा दृश्यकाव्य' की रचना की। भारतेन्दु जी के ऐतिहासिक महत्व को स्पष्ट करते हुये विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं- "भारतेन्दु ने नाटक पर विचार करते समय उसकी प्रकृति, समसामयिक जनरुचि एवं प्राचीन नाट्यशास्त्र की उपयोगिता पर विचार किया है। उन्होंने बदली हुई जनरुचि के अनुसार नाट्यरचना में परिवर्तन करने पर विशेष बल दिया है। भारतेन्दु के नाटक-विषयक लेख में आलोचना के गुण मिलते हैं। ऐसी दशा में उन्हें आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रथम आलोचक कहना अनुचित न होगा।"[4]

---

3. नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य- बीसवीं शताब्दी, पृ.56
4. विश्वनाथ त्रिपाठी : हिन्दी आलोचना, पृ.19

पत्र-पत्रिकायें- भारतेन्दु युग में अनेक प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाओं के माध्यम से आलोचना दृष्टि का विकास हुआ था। इस युग के सभी प्रमुख आलोचकों- भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के संपादन में निकलने वाली पत्रिकायें अपनी साहित्यिक, संस्कृतिक भूमिका की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। इस क्षेत्र में भारतेन्दु के महत्व की चर्चा करते हुए मधुरेश लिखते हैं- "1868 में उन्होंने 'कविवचनसुधा' नामक पत्रिका शुरु की। अपने नाम के अनुरूप, पत्रिका कविता-केन्द्रित थी जिसमें अधिकांशत: पुराने कवियों की कवितायें ही छपा करती थी। लेकिन बाद में उसमें गद्य रचनायें भी छपने लगी। इसके पाँच वर्ष बाद 1873 में भारतेन्दु ने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' नामक मासिक पत्रिका आरंभ की और आठ अंकों के बाद उसका नाम बदल कर उनहोंने 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' कर दिया। हिन्दी गद्य के विकास और उसके रूप निर्धारण में इस पत्रिका की एक विशिष्ट भूमिका थी। इस पत्रिका के रूप में अभिव्यक्ति का एक सहज मंच मिल जाने के परिणाम स्वरूप अनेक नए लेखकों को लिखने की प्रेरणा मिली। .... भाषा और साहित्य के महत्व के साथ ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्त्री शिक्षा के महत्व को भी समझ रहे थे। स्त्री शिक्षा और संस्कार निर्माण के उद्देश्य से सन् 1874 में उन्होंने 'बाल-बोधिनी' नामक पत्रिका आरंभ की। इस प्रकार पैंतीस वर्ष की अपनी संक्षिप्त जीवनावधि में उन्होंने तीन पत्रिकाओं का संपादन प्रकाशन किया। जिसे उन्होंने स्वयं 'हिन्दी नई चाल में ढली' कहा उसके निर्माण और रूप स्थिर करने में 'हरिचन्द्र चन्द्रिका' की भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय है।"[5]

---

5. मधुरेश : हिन्दी आलोचना का विकास, पृ.12

आलोचना के अंतर्गत किसी कृति के गुण दोषों की समीक्षा का सफल प्रयास बालकृष्ण भट्ट की 'हिन्दी प्रदीप', प्रताप नारायण मिश्र की 'ब्राह्मण' और बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' की 'आनन्द कादम्बिनी' में देखा जा सकता है।

पुस्तक समीक्षायें- भारतेन्दु युग की दो सर्वाधिक प्रसिद्ध पुस्तक समीक्षायें लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' पर लिखी गई थी। इनमें पहली आलोचना 'हिन्दी प्रदीप' में पंडित बालकृष्ण भट्ट द्वारा लिखी गई, जिसका शीर्षक था 'सच्ची समालोचना'। इसमें भट्ट जी ने इस नाटक के ऐतिहासिक कहे जाने पर आपत्ति की थी। निबंध में वे लिखते हैं- "लालाजी, यदि बुरा न मानिये तो एक बात आप से धीरे से पूछें, वह यह कि आप ऐतिहासिक नाटक किस को कहेंगें? क्या केवल किसी पुराने समय के ऐतिहासिक पुरावृत्त की छाया लेकर नाटक लिख डालते ही वह ऐतिहासिक हो जाएगा - क्या किसी विख्यात राजा या रानी के आने ही से वह लेख ऐतिहासिक हो जायेगा; यदि ऐसा है तो गप्प हाँकने वाले दस्तानगो और नाटक के ढंग में कुछ भी भेद न रहा।"[6] स्पष्ट है कि भट्ट जी की दृष्टि में 'संयोगिता स्वयंवर' ऐतिहासिक कथा पात्रों को लेकर लिखा गया किस्सा है, ऐतिहासिक नाटक नहीं, क्योंकि इसमें लेखक के ऐतिहासिक बोध का परिचय नहीं मिलता। चारित्रिक वैशिष्ट्य से रहित कथा-पात्रों के आलंकारिक और पांडित्यपूर्ण संवादों की उन्होंने कडी आलोचना की है।

प्रेमघन जी ने 'संयोगिता स्वयंवर' की समालोचना 'आनन्द कादम्बिनी' में की थी। उन्होंने लिखा था, "यद्यपि इस पुस्तक की समालोचना करने के पूर्व इसके समालोचकों की समालोचनाओं की समालोचना करने की आवश्यकता जान पडती है,

---

6. नन्दकिशोर नवल : हिन्दी आलोचना का विकास,पृ.30 से उद्धृत

क्योंकि जब-जब हम इस नाटक की समालोचना अपने बहुतेरे सहयोगी और मित्रों को करते देखते हैं तो अपनी ओर से जहाँ तक खुशामद और चापलूसी का कोई दरजा पाते हैं, शेष छोडते नहीं दिखते।" [7] प्रेमघन जी ने मुख्यत: त्रुटि निर्देश का प्रयास किया है। अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन्होंने नाटक के संवादों और छंदों पर कालिदास, भारतेन्दु और शेक्सपीयर के प्रभाव को सोदाहरण समझाया है।

भारतेन्दु युगीन समालोचना को शुक्ल जी तथा अन्य आलोचकों ने गुणदोष दर्शन माना है। इसमें क्रमबद्ध व्यवस्थित साहित्यिक चेतना का अभाव पाया गया है किंतु पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पुस्तक समीक्षायें आलोचनात्मक संभावनाओं से युक्त हैं। इनमें भविष्य में विकसित होने वाली आलोचना के प्रतिनिधि रूपों के संकेत मिलते हैं।

द्विवेदी-युगीन आलोचना

आलोच्य युग के आलोचकों में सबसे प्रखर व्यक्तित्व आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का था। वे संस्कृत के विद्वान थे तथा संस्कृत के कवियों तथा कृतियों पर विचार करते हुए उन्होंने अपने आलोचनात्मक लेखन का आरंभ किया। द्विवेदी जी के विचारों का तत्कालीन हिन्दी साहित्य पर अत्यन्त व्यापक प्रभाव पडा।

द्विवेदी युग में आलोचना की स्पष्टत: दो धारायें सामने आती हैं। इनमें एक धारा अपने युग और समाज की चिंताओं से जुडी थी तो दूसरी धारा रीतिवाद की पुनर्स्थापना और व्याख्या से संबद्ध थी। इन परिस्थितियों पर रोशनी डालते हुए मधुरेश लिखते हैं

---

7. आ. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ .257 से उद्धृत

"साहित्य और भाषा के क्षेत्र में विवाद का केन्द्रीय मुद्दा रीतिवाद बनाम युगीन संवेदना का द्वन्द्व था। काव्य भाषा के रूप में ब्रजभाषा अभी भी न सिर्फ स्वीकृत थी, लोगों को यह विश्वास करने में भी कठिनाई हो रही थी कि खडीबोली की गद्यात्मक और कर्कश प्रकृति के कारण उसमें काव्य रचना संभव है। इन्हीं परिस्थितियों के बीच हिन्दी आलोचना अपना रूप संवार रही थी। 'सरस्वती' के माध्यम से महावीर प्रसाद द्विवेदी की भूमिका को ठीक से समझने के लिये यह जरूरी है कि उन लोगों की आलोचनात्मक सक्रियता को उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझा जाये जिनके बीच महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपना काम किया था।"[8]

उपर्युक्त दोनों धाराओं के प्रमुख आलोचकों का संक्षिप्त परिचय देते हुये द्विवेदी युगीन आलोचना का मूल्यांकन समीचीन होगा।

मिश्रबन्धु - मिश्रबन्धु के सम्मिलित नाम से आलोचना लिखने वाले थे- श्री गणेश बिहारी मिश्र, शुकदेव बिहारी मिश्र और श्याम बिहारी मिश्र। 'हिन्दी नवरत्न' इनकी प्रसिद्ध पुस्तक है जिसमें उन्होंने हिन्दी के नौ कवियों का चयन करके उनकी जीवनियों के साथ उनके काव्यगत वैशिष्ट्य को भी उद्घाटित किया। वे कवि है- गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, देव, बिहारी, भूषण-मतिराम, केशवदास, कबीर, चन्दबरदाई और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र। भूषण और मतिराम को 'त्रिपाठी बंधु' उपशीर्षक के अंतर्गत एक साथ ही रखकर विचार किया गया है। आलोचना के इतिहास में 'हिन्दी नवरत्न' का तुलनात्मक आलोचना के पुरस्कर्ता के रूप में उल्लेख मिलता है। चार भागों में

---

8. मधुरेश : हिन्दी आलोचना, पृ.25

प्रकाशित 'मिश्रबन्धु विनोद' का उल्लेख शुक्ल जी ने 'बडा भारी इतिवृत्त संग्रह' कहकर किया। परवर्ती आलोचकों ने भी इसे साहित्य का इतिहास नहीं माना परंतु निर्विवाद रूप से इसका यह महत्व स्वीकृत है कि इसमें साहित्य के इतिहास लेखन के लिये कच्चा माल उपलब्ध होता है। इसमें विभिन्न प्रवृत्तियों और उनकी शाखाओं से जुडे हजारों कवियों का इतिहास संकलित है परंतु कृतियों का विवेचन मात्र परिचयात्मक है। इसमें आलोचनात्मक विवेक कम है।

पद्मसिंह शर्मा- तुलनात्मक समालोचना के मर्मज्ञ थे पंडित पद्मसिंह शर्मा। वे विविध भाषाओं के साहित्यों के रस समान भाव से ग्रहण कर उनकी तुलना करते थे। वे रीतिकालीन साहित्य के पक्षधर थे और खडी बोली को काव्य रचना के अनुकूल नहीं मानते थे। उनकी आलोचना शैली पर प्रकाश डालते हुये विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं- "पं.पद्मसिंह शर्मा की आलोचना शैली सर्वत्र यही है। वे काव्य के मर्मज्ञ रसिक हैं, इसमें कोई संदेह नहीं; वे काव्य की व्याख्या भी कर सकते हैं, किंतु कृति की प्रशंसा करते समय 'वाह-वाह! क्या-क्या खूब है! मजमून छीन लिया है' कहते हैं और बुराई करते समय या तो सिर पीटते हैं या जमाने को भला-बुरा कहते हैं। मिश्र बंधुओं, लाला भगवानदीन और पं. पद्मसिंह शर्मा- इनमें विवाद चाहे जितना अधिक हो किंतु ये तीनों रीतिकालीन संस्कारों से युक्त आलोचक हैं, इनकी श्रेणी एक ही है।"[9]

पं. कृष्णबिहारी मिश्र- मिश्र जी ने देव और बिहारी की काव्य विवेचना के अतिरिक्त श्रंगार के रसराजत्व पर विस्तृत विचार किया। उनकी आलोचना दृष्टि की रीतिबद्धता पर श्रीमती निर्मला जैन की टिप्पणी इस प्रकार है- "मिश्र जी के दृष्टिकोण की

---

9. विश्वनाथ त्रिपाठी : हिन्दी आलोचना, पृ.41

रीतिबद्धता का प्रमाण उनकी व्यावहारिक आलोचना में मिलता है। किसी पद्य में उनकी आलोचना के विषय इस प्रकार होते हैं : पिंगल, रस, गुण, रीति, पात्र, ध्वनि, दोष, अलंकार। मतिराम के काव्य में और बातों के अतिरिक्त वे उनके प्रकृति विज्ञान और लोक-प्रसिद्ध ज्ञान के कायल हैं। मिश्र जी उनके 'कला नैपुण्य' से बहुत प्रभावित हैं, यह छिपा नहीं।"[10]

लाला भगवानदीन- 'देव' और 'बिहारी' से जुडे विवाद में सक्रिय रूप से जुडे थे लाला भगवानदीन। बिहारी की प्रतिकूल आलोचना से क्षुब्ध होकर उन्होंने बिहारी का बचाव किया और इस प्रक्रिया में देव का विरोध किया। उनकी पुस्तक 'बिहारी और देव' के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुये विश्वनाथ त्रिपाठी का कथन है- "लाला जी की यह पुस्तक बिहारी की रक्षा के लिये लिखी गई थी। इसलिये हम इसमें बिहारी पर लगाये गये दोषों का परिहार ही पाते हैं बिहारी के काव्योत्कर्ष की विवेचना नहीं। ज्यादातर तो यह किया गया है कि 'बिहारियों' ने जो दोष बिहारी पर लगाए हैं, लाला जी ने बिहारी को मुक्त करके वे ही दोष 'देव' पर लगा दिये हैं।"[11]

उपर्युक्त सभी आलोचक रीतिकालीन आलोचना के समर्थक हैं किंतु हिन्दी आलोचना की विकास यात्रा में इनके महत्व को नकारा नहीं जा सकता। इनकी व्याख्याओं और इनके विवादों में रीतिकालीन साहित्य की शक्ति और उसकी सीमाओं को स्पष्ट किया है। आलोचना की दूसरी धारा को प्रशस्त किया, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने और यही आलोचना की मुख्य धारा थी।

---

10. निर्मला जैन : हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी, पृ.26
11. विश्वनाथ त्रिपाठी : हिन्दी आलोचना, पृ.38

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी- द्विवेदी जी ने सन् 1903 से 'सरस्वती' के संपादक का कार्यभार ग्रहण किया। साहित्य की गतिविधि के नियमन-संचालन का भार उन्होंने स्वेच्छा से उठाया और निष्ठापूर्वक आजीवन निभाया। 'कवि-कर्तव्य' उनका अत्यधिक लोकप्रिय निबंध है। उन्होंने संस्कृत के लब्ध-प्रतिष्ठित कवियों की समालोचना की। 'कालिदास की निरंकुशता' जैसे निबंध में वे कालिदास जैसे कवि से अभिभूत हुये बिना उनके दोषों का निदर्शन करते हैं।

द्विवेदी जी कविता के लिये जनसाधारण की भाषा को ही उपयुक्त मानते हैं। उनकी सबसे बडी देन यह मानी गयी है कि उन्होंने व्याकरण की दृष्टि से खडीबोली को व्यवस्थित और परिष्कृत किया। 'सरस्वती' के माध्यम से उन्होंने इसके लिये जोरदार आंदोलन चलाया।

कविता की विषय वस्तु के संबंध में द्विवेदी जी के विचार, उनकी सामंतवाद विरोधी चेतना को स्पष्ट करते हैं। उन्होंने नायिका भेद और रीति निरूपण की परंपरा को ध्वस्त कर ऐसे विषयों पर कविता लिखने की बात कही जो 'उपदेशजनक' होने के साथ 'मनोरंजक' हो। वे साहित्य को 'उपयोगिता' और साहित्यकार को 'कर्तव्यपरायणता' की कसौटी पर परखते थे। द्विवेदी जी के महत्त्व पर टिप्पणी करते हुये डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है- "किसी को यह भ्रम न होना चाहिये कि मेरी दृष्टि में द्विवेदी मार्क्सवादी विचारक थे। द्विवेदी जी मार्क्सवादी विचारक नहीं थे। इसके साथ ही निवेदन है कि किसी मार्क्सवादी विचारक को यह भ्रम न होना चाहिये कि उसका चिंतन द्विवेदी जी के समग्र चिंतन से अधिक वैज्ञानिक और प्रगतिशील है। मेरी समझ में

भारत के बडे से बडे मार्क्सवादी विचारक द्विवेदी जी के लेखन से बहुत कुछ सीख सकते हैं।"[12]

बाबू श्यामसुन्दर दास- विश्वविद्यालयों में हिन्दी अध्यापन से जुडे आलोचकों की भी परंपरा पर्याप्त समृद्ध है। बाबू श्यामसुंदरदास इस श्रेणी के पहले आलोचक हैं। इनकी भूमिका पर टिप्पणी करते हुये आचार्य शुक्ल ने लिखा है- "बाबूसाहब ने बडा भारी काम लेखकों के लिये सामग्री प्रस्तुत करने का किया है। हिन्दी पुस्तकों की खोज के विधान द्वारा अपने साहित्य का इतिहास, कवियों के चरित्र और उनपर प्रबंध आदि लिखने का बहुत सा मामला इकट्ठा करके रख दिया। इसी प्रकार आधुनिक हिन्दी के नए पुराने लेखकों के संक्षिप्त जीवनवृत्त 'हिन्दी कोविद माला' के दो भागों में संगृहीत किए हैं। शिक्षोपयोगी तीन पुस्तकें- 'भाषा विज्ञान', 'हिन्दी भाषा और साहित्य' तथा 'साहित्यालोचन'- भी आपने लिखी या संकलित की है।"[13]

शिक्षोपयोगी उपर्युक्त तीन पुस्तकें काशी हिन्दी विश्वविद्यालय के एम.ए. के पाठ्यक्रम के लिये तैयार की गई थी। इनमें 'साहित्यालोचन' विशेष रूप से आज भी उतना ही हिन्दी के अध्ययन अध्यापन से जुडे व्यक्तियों केलिये प्रासंगिक है। इसमें साहित्य, कविता, गद्यकाव्य, दृश्यकाव्य, रस, शैली, और साहित्य की आलोचना से संबंधित पाश्चात्य लेखकों के विचारों को क्रमबद्ध रूप से रखा गया है। श्यामसुन्दरदास जी केवल सामग्री का संकलन ही नहीं करते, उसके पक्ष-विपक्ष में अपना अभिमत भी प्रकट करते हैं।

---

12. डॉ. रामविलास शर्मा : महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, भूमिका
13. आ. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.283

हिन्दी आलोचना के विकास में श्यामसुंदर दास जी के महत्व का सटीक मूल्यांकन करते हुये मधुरेश लिखते हैं- "काशी नागरी प्रचारिणी सभा की उन्होंने स्थापना की, जिसे हिन्दी साहित्य और भाषा के विकास की दृष्टि से अनेक विद्वान वही महत्व देते हैं जो देश की स्वाधीनता के लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का था। सभा द्वारा संचालित पत्रिका 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' और 'सरस्वती' का उनहोंने संपादन भी किया। उनके द्वारा लिखित, सम्पादित और संकलित पुस्तकों की संख्या 100 के लगभग है। सत्तर वर्ष के अपने सुदीर्घ जीवन में हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास के लिये उन्होंने जो कुछ किया उसके अभाव में हिन्दी आलोचना की स्थिति भी भिन्न होती। एक आलोचक के रूप में वे भले ही महत्वपूर्ण न हो, आलोचना के लिये अपेक्षित मौलिकता और गम्भीरता के अभाव में, लेकिन उन परिस्थितियों के निर्माण में उनकी उल्लेखनीय भूमिका थी जिनके कारण ही किसी भाषा में आलोचना संभव होती है।"[14]

शुक्ल युग- विशुद्ध आलोचना का आरंभिक दौर

शुक्ल युग आधुनिक हिन्दी आलोचना का प्रस्थान बिंदु है। यहीं से हिन्दी की आलोचना ने गुण-दोष-विवेचन, तारतमिक श्रेणी विभाग आदि से आगे बढकर सार्थक भूमिका ग्रहण की। शुक्ल जी की रचनाओं के माध्यम से हिन्दी आलोचना ने नये युग में पर्दापण किया। पूर्ववर्ती परंपरा में शुक्ल जी को जो कमियाँ दिखीं, उन्होंने अपनी आलोचना से उन कमियों को दूर किया। मलयज ने ठीक ही लिखा है- "आज यह

---

14. मधुरेश : हिन्दी आलोचना का विकास, पृ.37

खुले मन से कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल के पहले साहित्य को 'शास्त्र' करके दिखानेवाली आँखें ही थी, साहित्य को मर्म कहकर बतानेवाली आँखें नहीं। शुक्ल जी की दृष्टि पुराने और नये, तथ्य और भाव, शास्त्र और मर्म के बीच सिर्फ समन्वय या तालमेल की दृष्टि न थी, बल्कि अपने विवेक की तुला पर तौल कर साहित्य और जीवन का एक ऐसा रसायन तैयार करने की थी जो मनुष्य के अर्थ को उसकी तात्कालिकता में भी और उसकी चिरंतनता में भी दूर तक प्रकाशित कर दे। साहित्य में अभिव्यक्त जीवन के अर्थ की सिर्फ व्याख्या नहीं, उसके मूल उत्सों की खोज और पडताल उस विवेक की कसौटी है जिसे संभव बनाकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिन्दी में पहली बार वास्तविक आलोचना कर्म को सार्थक बनाया।''[15]

'हिन्दी साहित्य का इतिहास', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'जायसी ग्रंथावली', 'भ्रमर गीत सार', 'चिंतामणि' (तीन भागों में) एवं 'रसमीमांसा' उनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं जिनके माध्यम से प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र का प्रासंगिक मूल्यांकन करते हुये उन्होंने सूर, तुलसी और जायसी के साहित्य का विस्तृत विश्लेषण भी किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने हैकेल की पुस्तक 'रिडल्स ऑफ यूनिवर्स' का अनुवाद कर, उसकी लम्बी भूमिका 'विश्वप्रपंच' नाम से लिखी।

कविता की नई अवधारणा प्रस्तुत करते हुये उन्होंने 'कविता क्या है' निबंध में लिखा- ''जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिये मनुष्य की

---

15. मलयज : रामचन्द्र शुक्ल, पृ.25

वाणी जो शब्दविधान करती है, उसे कविता कहते हैं।"[16] वे जीवन और कविता में 'भाव' को केन्द्रीय स्थान देते हैं। वे उन सभी प्राचीन और आधुनिक आलोचना सिद्धांतों का खण्डन करते हैं जो जीवन और साहित्य के संबन्ध को नकारते हैं। रहस्यवाद, अभिव्यंजनावाद और कलावाद के विरोध का यही कारण है।

तुलसीदास शुक्लजी के प्रिय आदर्श कवि हैं। उनकी 'रामचरितमानस' में शुक्ल जी को करुणा का सम्यक प्रसार दिखाई दिया। शुक्ल जी के प्रिय भाव 'लोकमंगल' की प्रतिष्ठा उसमें हुई है। रामस्वरूप चतुर्वेदी जी ने ठीक ही लिखा है "स्मरणीय यह भी कि तुलसी ने रामचंद्र शुक्ल के बनने में जितना योग दिया है उसे देखते हुये तुलसी की आस्वाद प्रक्रिया को संवर्द्धित-समृद्ध करने में रामचंद्र शुक्ल का योग भी कम नहीं। कहना न होगा कि रामचंद्र शुक्ल के बाद तुलसी, विशेषत: रामचरितमानस वही नहीं रह गया जो उनके पूर्व था। और तुलसी जैसे प्रतिभाशाली रचना-व्यक्तित्व के संबंध को लेकर ऐसा दावा करना निश्चय ही बडी बात है।"[17]

शुक्ल जी ने जायसी के 'पद्मावत' को हिन्दी का श्रेष्ठ प्रबन्ध काव्य माना है। नागरी प्रचारिणी सभा से उनके संपादन में 'जायसी ग्रंथावली' प्रकाशित हुई जिसकी भूमिका में उन्होंने काफी विस्तार से जायसी के काव्य के विभिन्न पक्षों पर विचार किया। सूरदास के काव्य पर उनकी आलोचना भी 'भ्रमरगीत सार' की भूमिका के रूप में लिखी गई। उनका सूरदास संबंधी लेखन समग्रता से पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा संपादित 'सूरदास' नामक ग्रंथ में उपलब्ध होता है।

---

16. आ. रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि भाग- 1, पृ.113
17. रामस्वरूप चतुर्वेदी : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल- आलोचना का अर्थ : अर्थ की आलोचना, पृ.32

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' शुक्ल जी का महत्वपूर्व आलोचनात्मक ग्रंथ है जिसमें हिन्दी साहित्य के संपूर्ण इतिहास का मूल्यांकन किया गया है। हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन से जुडे लोगों के लिये यह ग्रन्थ अमूल्य है। डॉ. नामवर सिंह के शब्दों में- "सामान्यत: आचार्य शुक्ल छायावाद के विरोधी समझे जाते हैं, किंतु तथ्य यह है कि वे स्वच्छन्दतावाद के विरोधी न थे। काव्य में रहस्यवाद उन्हें अमान्य था फिर भी वे प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक रहस्य भावना के कायल थे। कविता में अनुभूति को वे सर्वोपरि मानते थे। काव्य भाषा की दृष्टि से छायावादी पदावली ही नहीं बल्कि पूरी भाषा-व्यंजना उन्हें प्रिय थी। इन्हीं मान्यताओं के अनुसार उन्होंने हिन्दी कविता की समूची परंपरा का मूल्यांकन किया, जो आगे चलकर 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के रूप में हिन्दी के विद्यार्थियों का संस्कार बन गया।"[18]

छायावादी कवियों की आलोचना दृष्टि

छायावाद के चारों प्रमुख कवियों प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी ने कविता की बदली हुई संवेदना का सूक्ष्म विवेचन कर उस काव्य प्रवृत्ति की सही समझ पाठकों को दी। शुक्ल जी की धारणा थी कि छायावाद के स्रोत विदेशी है और ईसाई संतों का छायाभास बंगाल से होता हुआ हिन्दी में आ पहुँचा है। स्वाभाविक रहस्य भावना पर आधारित कविताओं के प्रशंसक होने पर भी काव्य सिद्धांत के रूप में वे रहस्यवाद की सत्ता नहीं स्वीकार करते। छायावादी कवियों ने इस विरोध का प्रतिवाद गम्भीरतापूर्वक किया। मधुरेश लिखते हैं- "छायावादी कवियों के लिये आलोचना बहुत कुछ

---

18. डॉ. नामवर सिंह : कविता के नये प्रतिमान, पृ.32

आपद्धर्म की तरह थी। छायावाद के चौतरफा और व्यापक विरोध ने ही वस्तुत: उन्हें आलोचना कर्म के लिये विवश किया। जैसे कभी अंग्रेजी कविता के कवि वड्र्सवर्थ के 'लिरिकल बैलेड्स' (1798) की भूमिका को रोमांटिक काव्यान्दोलन के घोषणा पत्र के रूप में लिया गया और फिर उसके बाद प्राय: उस आंदोलन से जुडे सभी कवियों ने महत्त्वपूर्ण गद्य लिखा, अपनी परिवर्तित काव्य संवेदना की व्याख्या एवं स्पष्टीकरण में, लगभग यही स्थिति छायावादी कवियों के साथ भी थी।"[19]

जयशंकर प्रसाद- प्रसाद जी की साहित्यिक मान्यतायें 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' के रूप में संगृहीत हैं। इन निबंधों के माध्यम से वे छायावाद पर लगाए गए आक्षेपों का उत्तर देते हैं। उन्होंने आलोचकों के इस मत का खंडन किया कि छायावाद का स्रोत विदेशी है और उसे भारतीय चिंतन परंपरा के विकास की स्वाभाविक परिणति के रूप में प्रतिष्ठित किया।

'रहस्यवाद' शीर्षक निबंध में उन्होंने छायावाद की रहस्य चेतना का स्पष्टीकरण तो किया ही, सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में रहस्यवादी परंपरा की रूपरेखा भी प्रस्तुत की।

यथार्थवाद के संबंध में प्रसाद जी की धारणायें सुनिश्चित और स्पष्ट है। हिन्दी की परंपरा किस प्रकार लोकमंगल और सामाजिकता की ओर बढ रही थी, यह प्रसाद जी के विश्लेषण से स्पष्ट था। छायावादी कवियों की परिवर्तित काव्य संवेदना का स्पष्टीकरण देते हुये उन्होंने लिखा- "कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुंदरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर

---

19. मधुरेश : हिन्दी आलोचना का विकास, पृ.130

स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।''[20]

सुमित्रानन्दन पंत- पंत जी द्वारा लिखी गई 'पल्लव' की भूमिका को आलोचकों ने वर्ड्सवर्थ द्वारा लिखित 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका के समान महत्वपूर्ण स्थान देते हुये, उसे छायावादी काव्य का घोषणा पत्र कहा है।

वे घोषित रूप से खडीबोली में काव्य रचना के समर्थक हैं। उसे नये युग की स्वाभाविक भाषा सिद्ध करते हुये उन्होंने लिखा- ''ब्रज भाषा में नींद की मिठास थी, इसमें -खडी बोली में- जागृति का स्पंदन; उसमें रात्रि की अकर्मण्य स्वप्नमय ज्योत्सना, इसमें दिवस का सशब्द कार्य व्यग्र प्रकाश।''[21]

उन्होंने खडी बोली की कविता के उपयुक्त भावानुसारी छंदों का विवेचन किया और मुक्त छंद की संभावनाओं कोर रेखांकित किया। पंत जी के साहित्य विवेक ने आधुनिक कविता के आस्वाद के लिये समर्थ पृष्ठभूमि प्रस्तुत की थी। इसका उल्लेख मधुरेश के निम्नलिखित विचारों में मिलता है- '' काव्य भाषा के रूप में खडी-बोली की व्यापक स्वीकृति के लिये किये जाने वाले संघर्ष की दृष्टि से इस भूमिका का ऐतिहासिक महत्व है। पंत की इस भूमिका के कारण ही काव्य के प्रतिमानों में भी परिवर्तन हुआ और काव्य की कलागत सूक्ष्मताओं को देखने परखने वाली एक आलोचनात्मक दृष्टि भी विकसित हुई।'' [22]

---

20. जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ.121
21. सुमित्रानन्दन पंत : पल्लव, पृ.60
22. मधुरेश : हिन्दी आलोचना का विकास, पृ.133

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'- निराला जी का लेखन भी उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही निराला है। उनके साहित्यिक निबन्धों की शैली विश्लेषणात्मक है। उनका प्रखरतम रूप 'पंत और पल्लव' में देखा जा सकता है। छंद और अन्य साहित्यिक पक्षों पर उनके विचार, उनके व्यापक अध्ययन और गहन चिंतन का परिचय देते है। 'मेरे गीत और कला' नामक निबंध में उन्होंने 'जूठी की कली' शीर्षक कविता की जो विस्तृत अर्थ-मीमांसा प्रस्तुत की है, वह व्यावहारिक समीक्षा की अप्रतिम दस्तावेज है।

'परिमल' की भूमिका में मुक्त छंद का गहन विवेचन करके उन्होंने नये छंदशास्त्र की आधार शिला रखी है। "मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्य की मुक्ति कर्मों के बंधन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग होना।"[23]

निराला जी की आलोचना की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसकी भाषा है। उनकी भाषा पर रामविलास शर्मा की टिप्पणी है- "निराला के लिये आलोचना और कविता की भाषा में मौलिक अंतर नहीं है। कविता जब कल्पनालोक छोडकर जीवन संग्राम के निकट आयेगी, तब वह कोमलकांत पदावली की भूमि छोडकर गद्य की भाषा के निकट आयेगी। जब गद्य जीवन संग्राम की भूमि छोडकर कल्पना लोक की ओर उडेगा, तब उसकी भाषा भी कोमलकांत पदावली के निकट होगी। यहाँ प्रश्न सरलता और क्लिष्टता का नहीं है, प्रश्न है जीवन संग्राम के अनुकूल अथवा प्रतिकूल भाषा का। जो शब्द चयन कल्पना की अतिशयता से जुडा हुआ है, वह क्लिष्ट हो सकता है, सरल भी।

---

23. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला : परिमल, भूमिका

रीतिवादियों का आदर्श है प्रसाद गुण युक्त सरल भाषा। किन्तु यह भाषा निराला के लिए जीवन संग्राम की भाषा नहीं है।"[24]

महादेवी वर्मा- श्रीमती महादेवी वर्मा के आलोचनात्मक निबंध 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' में संग्रहीत है। 'यामा' और 'दीपशिखा' की भूमिकाओं में भी उनकी आलोचकीय दृष्टि परिलक्षित होती है।

छायावाद की विवेचना करते हुये महोदेवी जी ने लिखा, "छायावाद का कवि, धर्म के आध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणि है जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है।"[25] प्रकृति के लघु और विशाल रूपों का छायावाद ने कितना तादात्म्य किया है, इसका कवयित्री ने विशद विवेचन किया है। इस काव्य में नारी को भी भाव जगत की मुक्ति प्रदान की गई। महादेवी ने इस विशेषता की ओर संकेत करते हुये लिखा "सौंदर्य की स्थूल जडता से मुक्ति मिलते ही नारी को प्रकृति के समान ही रहस्यमय शक्ति और सौंदर्य प्राप्त हो गया जिसने उसके मानसिक जगत से पिछली संकीर्णता को धो डाला।"[26]

छायावाद की सही व्याख्या करते हुये उन्होंने बताया कि उसने स्थूल समस्याओं को भी अपना विषय बनाया है; परंतु जिन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हुई है, वे सूक्ष्म हैं। "हमारी सामयिक समस्याओं के रूप भी छायावाद की छाया में निखरे ही। राष्ट्रीय भावना को लेकर लिखे गये जय-पराजय के गीत स्थूल धरातल पर स्थित सूक्ष्म

---

24. रामविलास शर्मा : निराला की साहित्य साधना, पृ.137
25. महादेवी वर्मा : महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ.60
26. वही, पृ.90

अनुभूतियों में जो मार्मिकता ला सके हैं वह किसी और युग के राष्ट्रगीत दे सकेंगे या नहीं, इसमें संदेह है। सामाजिक आधार पर 'वह दीपशिखा-सी शान्त, भाव में लीन' तप:पूत वैधव्य का जो चित्र है वह अपनी दिव्य लौकिकता में अकेला है।"[27]

महादेवी जी ने छायावादी कविताओं की समानार्थक पंक्तियों को वेदों में ढूँढकर यह सिद्ध किया कि छायावाद के स्रोत पश्चिमी नहीं वरन् भारतीय है।

शुक्लोत्तर आलोचना

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल का अन्यतम महत्व है। उनकी सबसे बडी देन यह है कि उन्होंने साहित्य के संबंध में एक सुसंगत दृष्टिकोण के निर्माण का प्रयत्न किया। शुक्ल जी के जीवन काल में ही लेखन आरम्भ करनेवाले जिन तीन आलोचकों ने शुक्लोत्तर समीक्षा को प्रभावित और संचालित किया है, वे हैं- पं.नन्दुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ. नगेन्द्र। परवर्ती आलोचकों पर शुक्ल जी के प्रभाव का विवेचन करते हुये मधुरेश लिखते हैं- "आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने स्वतंत्र रूप से तीन मध्यकालीन कवियों जायसी, तुलसीदास और सूरदास का मूल्यांकन किया। इनमें से सूरदास पर उनकी पुस्तक उनके मरणोपरांत प्रकाशित हुई, इनमें ऐसा अधिक कुछ नहीं था जिसे लेकर उनका विरोध हो। 'चिंतामणि' में संकलित उनके निबंध 'कविता क्या है?' 'काव्य में रहस्यवाद' और 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' में उनकी अनेक स्थापनायें ऐसी थीं जिन्हें लेकर विवाद की पर्याप्त गुंजाइश थी। इसके अतिरिक्त उनके 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में बहुत कुछ ऐसा था जिसे आधार

---

27. महादेवी वर्मा : महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ.68

बनाकर परवर्ती आलोचना में अनेक विवाद उभरे और गहराए। हिन्दी साहित्य का काल विभाजन, नामकरण, नाथ और सिद्ध साहित्य, कबीर और रहस्यवाद संबंधी उनकी स्थापनायें, रीतिकाल और छायावाद- ये ऐसे मुद्दे थे जिन्हें लेकर उनका पर्याप्त विरोध हुआ। उनके 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' की स्थिति यह थी कि हरेक के पास उसके विरुद्ध कहने को कुछ न कुछ था लेकिन उसका महत्व यह था कि उसे आधार और प्रस्थान बिंदु बनाए बिना किसी का भी काम नहीं चलता था। नंद दुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी और नगेन्द्र के रूप में आलोचकों की एक त्रयी, शुक्ल जी के जीवन काल में ही सक्रिय थी जिन्होंने शुक्ल जी से बचे और छूटे हुये क्षेत्रों में अपनी पहचान बनाने के साथ ही अनेक मुद्दों पर उनकी स्थापनाओं को चुनौती दी। . . . . शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना की ये दिशायें, उनसे अनेक असहमतियों के बावजूद उनके प्रति कोई निषेधात्मक और उच्छेदवादी दृष्टि नहीं अपनाती। उनके दाय को स्वीकार करके ही ये आलोचक उसमें कुछ और नया जोडने को उद्यत दिखाई देते हैं।"[28]

नन्ददुलारे वाजपेयी- आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने सर्वप्रथम छायावाद के समर्थक और पक्षधर के रूप में आलोचना के क्षेत्र में पहचान बनाई। इस दौर में नई काव्य वस्तु और नवीन अभिव्यंजना शैली के कारण छायावाद का जबरदस्त विरोध हो रहा था। छायावाद का सामाजिक संदर्भ अत्यंत स्पष्टता के साथ उन्होंने प्रस्तुत किया है। "नई छायावादी काव्यधारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है परंतु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं . . . . आधुनिक और परिवर्तनशील

---

28. मधुरेश : हिन्दी आलोचना का विकास, पृ.89

समाज व्यवस्था और विचार जगत् में छायावाद भारतीय आध्यात्मिकता की नवीन परिस्थिति के अनुरूप स्थापना करता है।"[29]

वाजपेयी जी ने प्रसाद जी की रचनाओं की समीक्षा करते हुये जो निबंध लिखे, 'जयशंकर प्रसाद' उनका संग्रह है। इसमें कामायनी की विस्तृत समीक्षा की गई है। वे कहते हैं कि कामायनी में प्रसाद एकांगी भौतिक प्रगति और संघर्ष का विरोध अवश्य करते है लेकिन कल्पनाशील आदर्शवाद से अनुप्रेरित होकर, भविष्यद्रष्टा की भांति आगामी वर्ग संघर्ष का आभास भी देते हैं। 'कवि निराला' में निराला-काव्य की विकास यात्रा के साथ ही उसकी काव्य भाषा, कला पक्ष, दार्शनिकता आदि की विवेचना की गई है। 'कुकुरमुत्ता' को वे उनकी व्यंग्य रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। हिन्दी उर्दू मिश्रित लोक प्रचलित भाषा तथा मुहावरों के प्रयोग ने कुकुरमुत्ता को और भी विशिष्ट बनाया है। छायावादी कवियों पर उनके लेख यह प्रमाणित करते हैं कि उन कवियों और तत्कालीन साहित्यिक गतिविधियों में उनकी गहरी दिलचस्पी थी। महावीर प्रसाद द्विवेदी, रत्नाकर, मैथिली शरण गुप्त, प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल, दिनकर आदि लेखकों पर उन्होंने विस्तार से लिखा है।

वाजपेयी जी ने आलोचना की प्रसिद्ध पत्रिका 'आलोचना' का संपादन लगभग तीन वर्षों तक किया। संपादकीय एवं अन्य लेखों में उन्होंने नये साहित्य के प्रति गंभीर प्रतिश्रुति का परिचय दिया। उनके आलोचनात्मक साहित्य का सटीक मूल्यांकन करते हुये विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं- "पं. नन्ददुलारे वाजपेयी की समीक्षा कृतियों को

---

29. नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, पृ.319

देखने पर ज्ञात होता है कि वे आचार्य शुक्ल की परंपरा के आलोचक हैं। उनका सामर्थ्य शुक्ल जी का विरोध करने में नहीं बल्कि उनका समर्थन करने या उनके द्वारा निकाली हुई समीक्षा पद्धति पर चलने में प्रकट हुई है। वाजपेयी जी को इस बात का श्रेय मिलेगा कि छायावाद, प्रगतिवाद, महावीर प्रसाद द्विवेदी, पं. रामचंद्र शुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, दिनकर और प्रयोगवादी रचनाओं की उन्होंने गंभीर और विस्तृत समीक्षा की। सामयिक जीवन की हलचलों को वे साहित्य रचना केलिये महत्वपूर्ण मानते थे। मृत्यु के कुछ दिनों पूर्व ही नई कविता के कवियों पर धर्मयुग में उनकी लेखमाला प्रकाशित हुई थी। उनकी स्पष्ट, निश्चित और आत्मविश्वासपूर्ण शैली अपने उत्कृष्ट रूप में शुक्ल जी की शैली का स्मरण कराती है।"[30]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी- आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी संस्कृत और ज्योतिष के विद्वान थे। उनके रचनात्मक विकास में रवीन्द्रनाथ टैगोर और शांतिनिकेतन की महत्वपूर्ण भूमिका थी। 'सूर साहित्य', 'कबीर', 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'बाणभट्ट की आत्मकथा' आदि कृतियों की रचना यहीं हुई थी। द्विवेदी जी के लिये शांतिनिकेतन व उससे जुडे अनुभव अमूल्य हैं, यही कारण है कि वे शांतिनिकेतन में अध्यापन के पहले दिन को द्विजत्व प्राप्ति के दिन के रूप में मनाते थे।

'सूर साहित्य' द्विवेदी जी की प्रथम आलोचनात्मक रचना है। इसमें उन्होंने 'प्रेम तत्व' की व्याख्या की है और जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास की 'राधा' के साथ सूर की 'राधा' के प्रेम का सूक्ष्म पार्थक्य दिखाया है। 'हिन्दी साहित्य की

---

30. विश्वनाथ त्रिपाठी : हिन्दी आलोचना, पृ.140

भूमिका' के माध्यम से द्विवेदी जी ने साहित्य के इतिहास-लेखन के लिए नवीन एवं समग्र दृष्टिकोण की माँग की। उनका विचार था कि हिन्दी साहित्य को संपूर्ण भारतीय साहित्य से संबद्ध करके देखा जाना चाहिए। हिन्दी साहित्य के माध्यम से व्यक्त विचारों को भारतीय चिंतनधारा के स्वाभाविक विकास के रूप में देखा जाये। हिन्दी के अतिरिक्त जैन और बौद्ध अपभ्रंश साहित्य, कश्मीर के शैवों तथा दक्षिण और पूर्व के तांत्रिकों के साहित्य, नाथ योगियों के साहित्य, वैष्णव आगम, पुराण तथा लौकिक कथा साहित्य को भी परखा जाना होगा। साहित्य के इतिहास को जनचेतना के इतिहास के रूप में व्याख्यायित करने के वे पक्षधर हैं।

आलोचक द्विवेदी जी का सब से तेजस्वी रूप 'कबीर' में दिखाई देता है। उन्होंने कबीर को रहस्यवाद के सीमित घेरे से निकाल कर जाति-धर्म निरपेक्ष मानव के रूप में प्रतिष्ठित किया। कबीर के असाधारण व्यक्तित्व का उद्घाटन ही उनका उद्देश्य है। पूर्ववर्ती आलोचकों ने कबीर का चित्र सभी को डाँटने फटकारनेवाले अक्खड फक्कड फकीर के रूप में प्रस्तुत किया। दिववेदी जी ने इस अक्खड फक्कड व्यक्तित्व की विलक्षणता का समग्रत: निरूपण इन शब्दों में किया- "कबीर 'ज्ञान के हाथी' पर चढे हुये थे पर 'सहज का दुलीचा' डाले बिना नहीं, भक्ति के मंदिर में प्रविष्ट हुये थे पर 'खाला का घर' समझकर नहीं, बाह्याचार का खंडन किया था, पर निरुद्देश्य आक्रमण की मंशा से नहीं; भग्वद्विरह की आँच में तपे थे, पर आँखों में आँसू भरकर नहीं; राम को आग्रहपूर्वक पुकारा था, पर बालकोचित मचलन के साथ नहीं- सर्वत्र उन्होंने एकसमता की थी। अकारण सामाजिक उच्च-नीच मर्यादा के समर्थकों को वे कभी क्षमा नहीं कर सके, भगवान के नाम पर पाखंड रखनेवालों को उन्होंने छूट नहीं दी, दूसरों को गुमराह

बनानेवालों को उन्होंने कभी तरह देना उचित नहीं समझा। ऐसे अवसरों पर वे उग्र थे, कठोर थे और आक्रामक थे।"[31] अन्यत्र उन्होंने लिखा है- "ऐसे थे कबीर। सिर से पैर तक मस्तमौला; स्वभाव से फक्कड, आदत से अक्खड; भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचंड; दिल के साफ, दिमाग के दुरुस्त; भीतर से कोमल, बाहर से कठोर; जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वंदनीय।"[32]

कबीरदास की कविता के भाव जितने प्रभावशाली है, भाषा उतनी ही विलक्षण है। द्विवेदी जी ने उनकी कविता की भाषा के बारे में यह टिप्पणी की है, "भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है- बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है।"[33]

स्पष्ट है कि आज कबीर की जो छवि हिन्दी साहित्य की नई पीढी के पाठकों के मन में विद्यमान है उसे द्विवेदी जी ने इसी पुस्तक के माध्यम से रूपायित किया है। द्विवेदी जी की यही आलोचकीय दृष्टि नामवर जी द्वारा खोजी गयी दूसरी परंपरा के मूल में स्थित है। इसी मानवतावादी और प्रगतिशील दृष्टि के कारण ही वे प्रेमचंद साहित्य की महानता को समझ सके।

---

31. हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ.176
32. वही, पृ.174
33. वही, पृ.216

द्विवेदी जी ने काव्य ही नहीं, काव्यशास्त्र को भी अपनी इतिहास-प्रेम की दृष्टि से परखा और उसकी व्याख्या की। उनकी सैद्धांतिक मान्यतायें मुख्य रूप से 'साहित्य का मर्म' में सामने आयी। शुक्लोत्तर युग के वरिष्ठ आलोचकों में द्विवेदी का महत्व विशेष रूप से उस दृष्टिकोण के लिये है जो उन्होंने साहित्य के अध्ययन के लिये सामने रखा। द्विवेदी जी की आलोचना की विशिष्टता पर प्रकाश डालते हुए डॉ. नामवरसिंह लिखते हैं "आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी समालोचकों की उस महान परंपरा में अन्यतम है, जहाँ सर्जनात्मक और आलोचनात्मक दोनों प्रकार की प्रतिभाओं का दुर्लभ मणिकंचनयोग पाया जाता है। यह सही है कि उनका मन साहित्य सृजन में अधिक रमता था, किंतु साहित्य समीक्षा को उन्होंने गौण कर्म के रूप में ग्रहण नही किया। साहित्य समीक्षा से जहाँ उनका सृजन समृद्ध हुआ है, वहीं सृजनात्मक अनुभव ने उनके साहित्य को निरंन्तर गतिशील और जीवंन्त रखा। सृजन और समीक्षा के इस द्वन्द्वात्मक संबंध का परिणाम यह हुआ कि आचार्य द्विवेदी ने औसत आलोचक की तरह साहित्य को तैयार माल के रूप में ग्रहण करके स्थिर सिद्धांतों के निर्माण के बौद्धिक व्यायाम में रुचि नहीं ली, बल्कि सृजन क्रिया के रूप में साहित्य की अंतर्निहित संभावनाओं का उन्मोचन किया। यह सृजनशीलता ही आलोचक हजारीप्रसाद द्विवेदी की अपनी स्वकीयता- अपनी विशिष्टता है।"[34]

डॉ. नगेन्द्र- डॉ. नगेन्द्र ने अपने समीक्षा कर्म का आरंभ छायावाद पर स्फुट निबंधों से किया। उनकी आरंभिक कृतियों में 'सुमित्रानन्दन पंत', 'साकेत : एक आध्ययन' और 'आधुनिक हिन्दी नाटक' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। परवर्ती आलोचनात्मक

---

34. वर्तमान साहित्य- शताब्दी आलोचना पर एकाग्र - भाग 1 जून, 2002, पृ.37

विकास के अंतर्गत उन्होंने हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों, सिद्धान्तों, वादों, कृतिकारों और महत्वपूर्ण कृतियों पर जो निबंध लिखे, उनका एक बृहद् संस्करण 'आस्था के चरण' नाम से प्रकाशित हुआ।

डॉ. नगेन्द्र रसवादी आलोचक हैं। उनका 'रस सिद्धांत' साहित्य अकाडेमी द्वारा पुरस्कृत हुआ था। इसमें उन्होंने रस शब्द के अर्थ-विकास के साथ रस संप्रदाय का इतिवृत्त प्रस्तुत किया है। रस की परिभाषा और स्वरूप निर्धारण के बाद वे करुण रस के आस्वाद, रस निष्पत्ति और साधारणीकरण पर विचार करते हैं। रस सिद्धांत की शक्ति और सीमा पर विचार करते हुये वे आधुनिक साहित्यिक-वादों, काव्य आन्दोलनों एवं प्रवृत्तियों के मूल्यांकन में उसकी प्रासंगिकता पर भी विचार करते हैं।

डॉ. नगेन्द्र के समीक्षा कर्म का मूल्यांकन करते हुये विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं- "आज जबकि समीक्षा के नाम पर व्यक्ति राग-द्वेष का ही बोलबाला है, डॉ नगेन्द्र की समीक्षा विषयक गम्भीरता सचमुच प्रशंसनीय है। अपने विषय के प्रतिपादन में वे विरोधी के तर्कों को समेटते रहते हैं और अपनी बात को तर्कों से प्रमाणित कर देते हैं। . . . . निर्भ्रान्त ढंग से अपनी बात को बलपूर्वक कहना डॉ. नगेन्द्र की शैली की विशेषता है। उनके पास सुचिन्तित तर्क पाश होता है और वे एक के बाद एक तर्कों से क्रमशः आगे बढते हुये अपना मत दृढ रूप से प्रकट करके ही रुकते हैं।"[35]

प्रगतिवादी आलोचना

सन् 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई थी। अध्यक्ष थे प्रेमचंद। इसके प्रथम अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने साहित्य के युगोचित नये उद्देश्य स्पष्ट किये थे। बदलती हुई साहित्यिक रुचियों और तदनुरूप नये साहित्यिक

---

35. विश्वनाथ त्रिपाठी : हिन्दी आलोचना, पृ.163

मानदंडों की ओर संकेत करते हुये उन्होंने कहा- "हमारी साहित्यिक रुचि बडी तेजी से बदल रही है। अब साहित्य केवल मन बहलाव की चीज नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है। अब वह केवल नायक नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता, किंतु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है और उन्हें हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के लिये अद्भुत आश्यर्चजनक घटनाएँ नहीं ढूँढता और न अनुप्रास का अन्वेषण करता है किंतु उसे उन प्रश्नों से दिलचस्पी है जिनसे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं। उसकी उत्कृष्टता की वर्तमान कसौटी अनुभूति की वह तीव्रता है जिससे वह हमारे भावों और विचारों में गति पैदा करता है।"[36] प्रेमचंद जी के भाषण में एक वर्ग और वर्णहीन समाज की स्थापना पर बल दिया गया। इस प्रकार हिन्दी में संगठित रूप से प्रगतिशीलता का नया दौर शुरु हुआ। साहित्यकारों ने घोषित रूप से मार्क्सवाद को अपनाया और इसके अनुसार आलोचना के क्षेत्र में भी नई मानयतायें प्रकट होने लगी। मार्क्सवादी आलोचकों में शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचंद्र गुप्त, रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध और नामवर सिंह अग्रणी हैं।

शिवदान सिंह चौहान- मार्च सन् 1937 के 'विशाल भारत' में शिवदान सिंह चौहान जी का 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ। इसमें प्रगतिशील साहित्य की विशेषता बताई गई है; हिन्दी साहित्य को संक्षेप में परखते हुये प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता पर बल दिया गया है। 'हिन्दी गद्य साहित्य', 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष', 'साहित्यनुशीलन', 'आलोचना के मान', 'साहित्य की समस्यायें', 'आलोचना के सिद्धांत' आदि उनकी प्रमुख रचनायें हैं।

'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' में उनकी मूल स्थापना यह है कि हिन्दी साहित्य वास्तव में खडी बोली साहित्य है जिसकी शुरुआत भारतेंदु युग में हुई है।

---

36. प्रेमचन्द : कुछ विचार, पृ.9

पूर्ववर्ती इतिहास ग्रंथों में जिसे हिन्दी साहित्य का इतिहास कहकर प्रस्तुत किया जा रहा है, वह वस्तुत: 'हिन्दी भाषा समूह का इतिहास' है जिसमें व्रज, अवधी, मैथिली, अपभ्रंश राजस्थानी आदि शामिल हैं। वे खडी बोली हिन्दी साहित्य का आरंभ भारतेन्दु के प्रहसन 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' से मानते हैं।

मधुरेश, शिवदान सिंह चौहान के योगदान को इस प्रकार आँकते हैं- "शिवदान सिंह चौहान ने भले ही बहुत योजनाबद्ध रूप से व्यवस्थित लेखन न किया हो, लेकिन जो भी किया है, अधिकतर निबंधों के रूप में होने पर भी वह उग्र वैचारिक विवादों और तीखे संघर्ष के बीच हुआ है। उनका वैचारिक संघर्ष एक ओर यदि प्रयोगवादियों की कुंठा-ग्रस्त, धुरीहीन और मानव विरोधी प्रवृत्तियों से रहा है वहीं उन्होंने प्रगतिवादी आलोचकों की उग्र अतिवादिता और कुत्सित समाज शास्त्रीयता का भी विरोध किया है। पहले 'हंस' और फिर 'आलोचना' के अपने संपादन काल के दोनों दौरों में आपने इस वैचारिक संघर्ष का भरपूर प्रमाण दिया है।"[37]

प्रकाशचंद्र गुप्त- प्रगतिवादी साहित्य के प्रकृति- विश्लेषण और सिद्धांत निरूपण में प्रकाशचंद्र गुप्त की सक्रिय भूमिका थी। 'आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि', 'हिन्दी साहित्य की जनवादी परंपरा' और 'साहित्यधारा' से उनकी आलोचना दृष्टि की व्यापकता का परिचय मिलता है। डॉ. निर्मला जैन, प्रकाशचंद्र गुप्त जी की विशेषता को इस प्रकार सूचित करती है- "मार्क्सवादी आलोचकों में गुप्त जी ही ऐसे हैं जिन्होंने विध्वंसात्मक आलोचना से सदा परहेज किया। सुबोधता, सरलता और शालीनता उनकी आलोचना के उल्लेखनीय गुण है।"[38]

---

37. मधुरेश : हिन्दी आलोचना का विकास, पृ.151
38. निर्मला जैन : हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी, पृ.68

डॉ. रामविलास शर्मा- मार्क्सवादी आलोचकों में डॉ. रामविलास शर्मा अन्यतम हैं। उन्होंने छायावादी काव्य और विशेषत: निराला के साहित्य की व्याख्या से आलोचना कर्म आरंभ किया था। डॉ. शर्मा ने आचार्य शुक्ल के विचारों की पुनर्व्याख्या की और उसमें युगानुरूप विस्तार किया। शुक्लोत्तर आलोचकों ने जिन मुद्दों पर शुक्ल जी की आलोचना की, उनपर पुन: विचार कर रामविलास शर्मा जी ने उनके महत्व को रेखांकित किया। "हिन्दी-साहित्य में शुक्ल जी का वही महत्व है जो उपन्यासकार प्रेमचंद या कवि निराला का। उन्होंने आलोचना के माध्यम से उसी सामंती संस्कृति का विरोध किया जिसका उपन्यास और कविता के माध्यम से प्रेमचंद और निराला ने। शुक्ल जी ने न तो भारत के रूढिवाद को स्वीकार किया, न पश्चिम के व्यक्तिवाद को। उन्होंने बाह्य जगत और मानव जीवन की वास्तविकता के आधार पर नये साहित्य सिद्धांतों की स्थापना की और उनके आधार पर सामंती साहित्य का विरोध किया और देशभक्ति और जनतंत्र की साहित्यिक परंपरा का समर्थन किया। उनका यह कार्य देशप्रेमी और जनवादी लेखक तथा पाठक के लिये दिलचस्प होना चाहिये।"[39]

'भारतेंदु युग' और 'भारतेंदु हरिश्चंद्र में उन्होंने राष्ट्रीय तथा लोकवादी दृष्टि से भारतेंदु और उनके सहयोगी लेखकों का मूल्यांकन किया। स्वयं शर्मा जी ने 'निवेदन' में इसे इतिहास नहीं वरन् भारतेदु युग का रेखाचित्र कहा है। विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं- "वस्तुत: यह पुस्तक भारतेंदु युग की प्रामाणिक शब्द चित्रावली है। यह पुस्तक इतिहास न हो, रेखा चित्र न हो, आलोचना न हो, लेकिन भारतेन्दु युग' से बढकर इस युग का किसी ने अब तक न कोई इतिहास लिखा है, न रेखाचित्र, न आलोचना।"[40]

---

39. रामविलास शर्मा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ.7
40. विश्वनाथ त्रिपाठी : हिन्दी आलोचना, पृ.183

'प्रेमचंद' और 'प्रेमचंद और उनका युग' के माध्यम से उन्होंने प्रेमचंद के अवमूल्यन के प्रयासों को निरस्त किया। उन्होंने व्यापक युगीन संदर्भों में प्रेमचंद का मूल्यांकन किया तथा सिद्ध किया कि उनकी राजनीतिक सूझ-बूझ अनेक राष्ट्रीय नेताओं से अधिक परिपक्व थी। उनकी लोकप्रियता को प्रमाणित करते हुये डॉ. शर्मा ने लिखा है- "चन्द्रकान्ता और तिलस्म होशरुबा के पढनेवाले लाखों थे। प्रेमचंद ने इन लाखों पाठकों को सेवासदन का पाठक बनाया, यह उनका युगान्तरकारी काम था। इन पाठकों की संख्या का अंदाज किताबों की बिक्री और संस्करणों से नहीं लगाया जा सकता। शहर या कस्बे के किसी पुस्तकालय में प्रेमचंद की किताबों की हालत देखिये। तरकारी काटनेवाली स्त्रियों से लेकर लाठी का तेल पिलानेवाले दरबानों की उंगलियों तक से उनके सफे पलटे जाने से वे किस खस्ता हालत में दिखाई देती हैं। प्रेमचंद ने चन्द्रकांता के पाठकों को अपनी तरफ ही नहीं खींचा, चन्द्रकांता में अरुचि भी पैदा की, जनरुचि के लिए उन्होंने नये मानदण्ड कायम किए और साहित्य के नए पाठक और पाठिकायें भी पैदा किये। यह उनकी जबरदस्त सफलता थी।"[41]

डॉ. शर्मा ने मार्क्सवादी आलोचना पद्धति से 'गोदान' की समीक्षा की। भारतीय समाज व्यवस्था और इतिहास के संदर्भ में इसके कथापात्रों को उन्होंने परखा। 'होरी' में मिटता हुआ किसान है और 'गोबर' सम्भावित सर्वहारा। "होरी का चरित्र भारत के अजेय किसान का चरित्र है। 'गोदान' उसके भगीरथ परिश्रम की गाथा है और होरी के मरने के बाद गोबर मानों पिता के हत्यारों के लिये चुनौती की तरह जीवित रहता है।"[42]

---

41. डॉ. रामविलास शर्मा : प्रेमचंद और उनका युग, पृ.31
42. वही, पृ.113

'निराला की साहित्य साधना' में डॉ. शर्मा ने अपने प्रिय कवि निराला के जीवन, व्यक्तित्व और कला पर विस्तारपूर्वक लिखा और उनके साहित्य की राष्ट्रीय प्रगतिशील भूमिका स्पष्ट की। इसमें निराला साहित्य के कला पक्ष का भी विस्तृत अध्ययन है। 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' लिखकर उन्होंने इस धारणा को ध्वस्त किया कि द्विवेदी जी सहज नीतिवादी और कठोर भाषा संशोधक मात्र थे।

हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना के विकास और संवर्द्धन में डॉ. रामविलास शर्मा की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका हैं। उनके योगदान पर प्रकाश डालते हुए मधुरेश लिखते हैं- "रामविलास शर्मा जैसे आलोचक की उपस्थिति में उस विधा में काम करके किसी को भी गर्व हो सकता है। उनकी असाधारण रूप से ऊर्जावान सक्रियता यदि बहुतों को अभिभूत करती है तो ऐसे भी लोग है जिन्हें वह हताश और कुंठित करती है। जितने व्यापक और परस्पर विरोधी समझे जानेवाले अनेक क्षेत्रों में उन्होंने काम किया है, किसी एक व्यक्ति द्वारा उस सबका मूल्यांकन संभव नहीं है। यह उनके महत्व पर एक काफी कुछ प्रचलित और तथ्यपरक टिप्पणी तो है ही, उस समूचे आलोचनात्मक परिदृश्य पर भी उतनी ही अर्थपूर्ण टिप्पणी है जिसमें वे प्राय: साठ वर्षों तक निरंतर सक्रिय रहे।"[43] गजानन माधव मुक्तिबोध- 'कामायनी : एक पुनर्विचार' के अतिरिक्त मुक्तिबोध का आलोचनात्मक साहित्य लेखों व डायरी के रूप में उपलब्ध होता है। वे मूलत: कवि हैं, अत: उनकी गणना कवि-आलोचकों की कोटि में की जा सकती है। उन्होंने मार्क्सवाद का अध्ययन अत्यंत गंभीरता से किया था। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद की वैज्ञानिक प्रणाली से उन्होंने जीवन और साहित्य को परखा था। उन्होंने कला की सामाजिक पक्षधरता का उद्घोष किया था। 'एक साहित्यिक की डायरी' के लेखों में वे रचना प्रक्रिया का आत्मसजग विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। काव्य रचना के तीन क्षणों का वर्णन करते हुये उन्होंने कहा, "कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट

---

43. मधुरेश : हिन्दी आलोचना का विकास, पृ.150

तीव्र अनुभव क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते- दुखते हुये मूलों से पृथक हो जाना और एक ऐसी फैंटेसी का रूप धारण कर लेना मानों वह फैण्टेसी अपनी आँखों के सामने ही खडी हो। तीसरा और अंतिम क्षण है इस फैंटेसी के शब्द बद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता।"[44]

मुक्तिबोध की कव्य-रचना का मुख्य माध्यम फैंटेसी है। अत: फैंटेसी की रचना की व्याख्या द्वारा वे अपनी ही रचना प्रक्रिया की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

मुक्तिबोध की व्यावहारिक आलोचना में 'कामायनी : एक पुनर्विचार' के अतिरिक्त त्रिलोचन की 'धरती', भारत भूषण अग्रवाल की 'ओ प्रस्तुत मन', धर्मवीर भारती की 'अंधायुग', दिनकर की 'उर्वशी' जैसी कृतियों पर आधारित लेख हैं। प्रेमचंद, शमशेर, सुभद्राकुमारी चौहान, हरिशंकर परसाई पर भी उन्होंने निबंध लिखे हैं।

आलोचक मुक्तिबोध की विलक्षणता के विषय में डॉ. रामबक्ष लिखते हैं- "मुक्तिबोध जब किसी लेखक का विश्लेषण करते हैं, तब वे उस लेखक के बारे में अन्य आलोचकों द्वारा कही हुई बातों को शायद ही कभी उद्धृत करते हों। वे उन बातों को भी कहने से बचते हैं, जो आम तौर से उस लेखक के बारे में कही जाती है। प्रेमचंद जैसे बहुचर्चित लेखक के बारे में भी, जब उन्होंने लिखा तो नितांत नई बातें लिखीं। इसीतरह भक्तिकाल के संबंध में भी मौलिक चिंतन प्रस्तुत किया। वे प्रस्तुत रचनाकार की रचनाओं में डूबकर उसकी रचना प्रवृत्ति का विश्लेषण करने लगते हैं। एक समर्थ आलोचक की तरह वे अपने आस्वाद को आस्वाद, अनुभव को प्रामाणिक मानकर तदनुसार अपनी राय बनाते हैं।"[45]

---

44. गजानन माधव मुक्तिबोध : एक साहित्यिक की डायरी, पृ.16
45. डॉ. रामबक्ष : हिन्दी आलोचना और आलोचक, पृ.134

मुक्तिबोध ने कामायनी की व्याख्या एक फैंटेसी के रूप में की है। वे लिखते हैं- "जिस प्रकार एक फैंटेसी में मन की निगूढ़ वृत्तियों का, अनुभूत जीवन समस्याओं का, इच्छित जीवन स्थितियों का प्रक्षेप होता है उसी प्रकार कामायनी में भी हुआ है।"[46]

कामायनी के पात्र और घटनायें वास्तविक जीवन तथ्यों के प्रतीक हैं, जैसे फैंटेसी में होते हैं। 'मनु' वेदकालीन मनु न होकर कवि के अपने काल और वर्ग का प्रतीक पुरुष है। मनु की समस्या भी आत्मानुभूति की समस्या है। मुक्तिबोध मानते हैं कि प्रसाद की विश्व दृष्टि श्रद्धा के माध्यम से व्यक्त हुई है। श्रद्धा के जीवन की आवश्यकतायें बहुत कम हैं। वन-जीवन की सरलता में वह तृप्त है। इडा भी बुद्धिवाद की प्रतीक नहीं, पूँजीवाद की प्रतीक है। कामायनी की,वर्ग-दर्शन पर आधारित अपनी पुनर्व्याख्या से मुक्तिबोध ने मार्क्सवादी दृष्टि का प्रमाण प्रस्तुत किया है।

आलोचक नामवर सिंह

हिन्दी आलोचकों में नामवर जी का स्थान इस दृष्टि से विशिष्ट है कि वे समाजवादी जीवन दृष्टि और नयी कविता की भावभूमि के सम्यक बोध के साथ आलोचना में प्रवृत्त हुये। उन्होंने मार्क्सवाद को अध्ययन और चिंतन की पद्धति के रूप में अपनाया है। वे अपनी आलोचना पद्धति में भारतीय काव्यशास्त्र और पश्चिमी आधुनिक आलोचना का काफी इस्तेमाल करते हैं। विश्व साहित्य के गहन अध्ययन के फलस्वरूप उनकी आलोचना दृष्टि रूपायित हुई है। अष्टभुजा शुक्ल ने ठीक ही लिखा है "निश्चित रूप से नामवर सिंह का आलोचकीय विवेक भारतीय काव्यशास्त्र के गहन परिशीलन क्वचिदन्यतोऽपि और हिन्दी साहित्य के निजी संघर्ष से उपजा है।

---

46. सं. नेमीचन्द्र जैन : मुक्तिबोध रचनावली (4), पृ.216

उनके यहाँ कच्ची भावप्रवणता जितनी ही त्याज्य है, उतना ही स्थूल समाजशास्त्र अमान्य है। उनकी भावयित्री प्रतिभा की कठिनाई यह है कि वे साहित्य में रचनात्मकता को रचना की पहली शर्त मानते हैं। कहना न होगा कि नामवर सिंह साहित्य के रूप और वस्तु, सर्जनात्मकता और विचारधारा की समवेत आलोचना पद्धति को विकसित करनेवाले अनन्य आलोचक है।''[47]

यह सर्वमान्य है कि हिंदी में आलोचना विधा की पुख्ता नींव आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रखी थी। वे ही हिन्दी आलोचना की 'प्रस्थान बिंदु' माने जाते हैं। शुक्ल जी समकालीन साहित्य पर जिस आत्मविश्वास से लिखते हैं, वह भक्तिकालीन साहित्य के विश्लेषण तथा भारतीय काव्यशास्त्र के प्रासंगिक मूल्यांकन में भी देखी जा सकती है। शुक्लोत्तर आलोचना के संबंध में नामवर जी का कथन है- ''शुक्ल जी के समय में शुक्लोत्तर परंपरा की आलोचना भी विकसित होती है। इसलिये मेरी दृष्टि में हिन्दी आलोचना की परंपरा केवल एक परंपरा नहीं है, बल्कि कई परंपरायें हैं।''[48] शुक्ल जी की परंपरा का विकास नामवर जी में भी देखा जा सकता है। वे भी शुक्ल जी के समान निजी पसंद-नापसंदवाली आलोचना को खारिज करते हैं और साहित्य के वस्तुवादी दृष्टिकोण के हिमायती हैं। रचना और सामाजिक संदर्भ के आधार पर ही वे प्रतिमानों को निर्धारित करते हैं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी जी नामवर जी के 'आकाशधर्मी गुरु' हैं। उन्हीं के माध्यम से नामवर जी ने दूसरी परंपरा की खोज की है। जिस प्रकार यह सर्वमान्य है कि तुलसी

---

47. वर्तमान साहित्य (शताब्दी आलोचना पर एकाग्र - भाग- 1) जून 2002
48. वही, (भाग 3) जून 2002

और कबीर अपने आप में लोकप्रिय कवि थे परंतु आधुनिक जीवन के लिये उन्हें संदर्भवान बनानेवाले क्रमश: शुक्ल जी और द्विवेदी जी हैं, उसी प्रकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी अनन्य प्रतिभासम्पन्न आलोचक हैं किन्तु 'दूसरी परंपरा की खोज' के माध्यम से नामवर जी ने उनके वैचारिक संघर्ष के संदर्भ को स्पष्ट किया और फलस्वरूप वे हिन्दी साहित्य में ऐतिहसिक महत्व के हकदार हुए। द्विवेदी जी के समान ही नामवर जी के साहित्य में भी लोकोन्मुखता का गुण देखा जा सकता है। वे भी संतुलित दृष्टि की माँग करते हैं और उनके लिए भी संतुलन का अर्थ समन्वय नहीं वरन् सत्यनिष्ठ पक्षधरता है। इस अर्थ में वे द्विवेदी जी की लोकोन्मुखी प्रगतिशील परंपरा को ही आगे बढाते हैं।

डॉ. नामवर सिंह एवं डॉ. रामविलास शर्मा मार्क्सवादी आलोचना के दो केन्द्रीय व्यक्ति हैं तथापि उनमें पार्याप्त पद्धतिगत मतभेद है। दोनों के दृष्टिकोण में भी पर्याप्त अन्तर है। डॉ. शर्मा, आचार्य शुक्ल एवं 'तुलसी' के पक्षधर है तो डॉ. सिंह, आचार्य द्विवेदी एवं कबीर के प्रति प्रतिबद्ध हैं। यह साहित्य क्षेत्र में लंबे विवाद का कारण बना।

नामवर जी का आलोचना साहित्य उनके व्यक्तित्व के समान ही प्रभावशाली है। हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना को केन्द्र में लाकर उसे मुख्य धारा के रूप में रेखांकित करने का श्रेय उनको ही प्राप्त है। नामवर जी की आलोचना, अपनी प्रकृति से ही संवाद-धर्मी है, अत: वह विवादों को जन्म देती है। वे मार्क्सवादी आलोचना को समृद्ध करनेवाले आलोचक हैं, तो उसे चुनौती देनेवाले आलोचक भी हैं। कुत्सित समाजशास्त्र और पतनोन्मुख कलावाद के विरुद्ध उनका दोहरा संघर्ष है। अपने प्रिय आलोचक एफ. आर लीविज की तरह वे भी सिद्धांत-शास्त्री आलोचक न होकर

साहित्यिक आलोचक हैं, जिनके लिए आलोचना आस्वाद भी है, सार्थक विश्लेषण और मूल्यांकन भी। उनके प्रति प्रचण्ड विरोध करनेवाले भी अपने लेखन से उनकी स्थापनाओं को विस्थापित नहीं कर सके। वे समकालीन रचना की दिशा मोडने का सामर्थ्य रखते हैं। केदारनाथ सिंह ने ठीक ही कहा है- "हिन्दी में शायद पहली बार ऐसा हुआ है कि एक आलोचक पूरे रचनात्मक परिदृश्य का केन्द्रीय व्यक्तित्व बन गया है। यह समकालीन रचनाशीलता पर स्वयं एक टिप्पणी है और बेशक एक सख्त टिप्पणी।"[49]

हमारे उपजीव्य आलोचक नामवर सिंह जी के समीक्षाधर्म तथा उनकी समीक्षा-दृष्टि की मौलिकता का शोधपरक अध्ययन और पडताल आगे के अध्यायों में प्रस्तुत किया जाएगा। यहाँ पर उनके समीक्षाधर्म की एक झाँकी मात्र प्रस्तुत की गई है।

---

49. पहल अंक 34, पृ.51

अध्याय - दो

नामवर सिंह : आलोचक - प्रतिभा का विकास

नामवर सिंह : आलोचक - प्रतिभा का विकास

- व्यक्तित्व गठन - अनुप्रेरक परिस्थितियाँ
- नामवर सिंह का आलोचना साहित्य - एक सर्वेक्षण
- नामवर सिंह और 'आलोचना' का संपादकत्व
- आलोचना के विविध आयाम - नामवर सिंह का चिंतन पक्ष
- नामवर सिंह की वक्तृता शैली
- नामवर सिंह की भाषा

नामवर सिंह : आलोचक - प्रतिभा का विकास

डॉ. नामवर सिंह ने अपने साहित्यिक जीवन का श्रीगणेश काव्य रचना द्वारा किया। आगे चलकर वे हिन्दी के पुरोधा आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। इस बीच एक निष्ठावान राजनीतिज्ञ, समर्पित अध्यापक, सफल संपादक और समर्थ वक्ता के रूप में उन्होंने विविध साहित्यिक तथा साहित्येतर धरातलों पर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया।

व्यक्तित्व गठन - अनुप्रेरक परिस्थितियाँ

डॉ. नामवर सिंह किसी लेखक की रचना-शक्ति अथवा प्रतिभा के रूपायन की प्रक्रिया को इस प्रकार विश्लेषित करते हैं- "साहित्य के सामान्य धरातल से सहसा कोई महान साहित्यकार ऊपर उठता दिखाई पडता है तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह जन्म से ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा लेकर आया था। किसी विशेष व्यक्तित्व का सहसा ऊपर उठना आकस्मिक नहीं है। आकस्मिक इसलिए प्रतीत होता है कि हम उन तत्वों को नहीं जानते जिनसे उनके व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है। .... हर लेखक की प्रतिभा एक निश्चित परिस्थिति और परंपरा की उपज होती है।"[1] लेखक के जीवन चरित की छान-बीन से ही समान परंपरा और परिस्थितियों के बीच विशिष्ट व्यक्तित्व की परख हो सकती है- "समाज के इतिहास के बीच प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक इतिहास है। व्यक्ति, व्यक्ति के आपसी संबंधों का ताना-बाना विविध प्रकार के व्यक्तित्वों का निर्माण किया करता है। एक व्यक्ति जितने लोगों के संपर्क में आता है, वे सब के सब किसी

---

1. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ.39

दूसरे के संपर्क में नहीं आते। संबंधों की इस विविधता, घनिष्ठता और जटिलता की जानकारी व्यक्तित्वों की विभिन्नता और विशिष्टता को जन्म देती है। किसी व्यक्ति से जुडे इन संबंध सूत्रों का नाम ही उसका जीवन चरित है।"[2] नामवर जी की रचना शक्ति की सही पहचान के लिये भी उनसे जुडे उन व्यक्तिगत और साहित्यिक संबंध सूत्रों का उल्लेख समीचीन होगा जो उनकी वैचारिक तेजस्विता की वास्तविक पृष्ठभूमि है।

(क) पारिवारिक माहौल

बनारस से तीस मील दूर स्थित गाँव जीअनपुर में नामवर जी का जन्म सन् 1927 में हुआ। उनके पिता, ठाकुर नागर सिंह प्राइमरी स्कूल के अध्यापक थे और उस गाँव के अकेले पढे -लिखे इन्सान थे। नामवर जी पर उनके चरित्रवान और स्वाभिमानी पिता की स्पष्ट छाप है। अपनी आत्मकथा में नामवर जी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखते हैं- "पिताजी न होते तो मैं आज जो कुछ हूँ, न होता। . . . वह अद्‌भुत अनुशासनप्रीय और घोर मर्यादावादी व्यक्ति थे। जैसा कि गाँव में तमाम तरह की बातें होती हैं, जमींदारों के बारे में, हम लोग सुनते रहते थे। उन लोगों के बीच पिता जी की छवि एक चरित्रवान व्यक्ति की थी। इस चरित्र का बडा गहरा असर मुझ पर पडा।"[3] शिक्षक बनने की प्रेरणा नामवर जी को पिता से मिली परंतु उनके जीवन की पहली 'पाठशाला' उनकी माँ थी। "माँ- मेरी माँ लम्बी, छरहरी थी। पिताजी जितने चुप्पा थे, माँ उतनी ही मुखर थी। गाँव में हर तरफ उसकी पूछ रहती थी। वही थी जो

---

2. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ.41
3. सं. भरत यायावर : नामवर सिंह-आलोचना के रचना पुरुष, पृ.459

गा-गाकर और गाते हुए रो-रो कर बहुत सी कहानियाँ सुनाती थी।"[4] माँ ने ही उन्हें लोकगीतों की धुनों और लालित्य से, लोक कथाओं की अचरज भरी दुनिया से तथा जीवन के रसों से पहले पहल परिचित किया।

नामवर जी के साहित्यिक संस्कारों की नींव डालने में उनके पिता के घनिष्ठ मित्र कांताप्रसाद विद्यार्थी ने सार्थक भूमिका निभाई। विद्यार्थी जी के यहाँ 'सैनिक', 'आज' और सस्ता साहित्य मंडल की किताबें आती थी। 'सैनिक' में छपने वाले कार्टून नामवर जी को बहुत अच्छे लगते थे। विद्यार्थी जी के यहाँ ही नेहरू की 'मेरी कहानी', 'विश्व इतिहास की झलक', गाँधी जी की आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग' और टोल्स्टोय की 'प्रेम में भगवान' नामक किताबों से उनका परिचय हुआ। विद्यार्थी जी बहुमुखी व्यक्तित्व वाले थे। वे कांग्रेसी थे, नमक सत्याग्रह के दौरान नमक बनाने के कारण गिरफ्तार हुए थे, खादी पहनते थे और हरिजन खानसामे का पकाया भोजन खाते थे। उनकी सादी जीवन शैली, उच्च आदर्शों और धार्मिक उदारता ने नामवर जी को बहुत प्रभावित किया था।

नामवर जी के लिये उनके भाई 'अनमोल' और उनका संयुक्त परिवार 'सौभाग्य' है। गृहस्थी के झंझटों में पडे बिना, निश्चिंत होकर सारी जिम्मेदारियों को अनुज काशीनाथ सिंह पर छोड कर वे पढने, पढाने और लिखने में व्यस्त रहे। नामवर जी की पुत्री समीक्षा का पालन पोषण भी उन्हीं ने किया। अंतिम समय में माता पिता की सेवा भी काशीनाथ जी ने ही की। भाइयों के प्रति अपनी भावनाओं को वे इस प्रकार व्यक्त करते हैं- "मेरे भाई अगर न होते तो मेरे जैसे आदमी, जो बनारस छोडकर जगह-जगह

---

4. सं. भरत यायावर : नामवर सिंह- आलोचना के रचना पुरुष, पृ.460

घूमता रहा; दिल्ली आया; जोधपुर गया; सागर गया; फिर दिल्ली आया, परिवार कभी साथ नहीं रहा, कैसे कुछ कर पाता । जब मैं बनारस में था, तब मैं ने नहीं जाना कि राशन की दूकान कौन सी है, सब्जी कहाँ मिलती है, कैसे घर का खर्च चलता है आदि। सारा का सारा काम काशी करते थे जो हमारे साथ रहते थे। हाईस्कूल करके गाँव से आये थे काशी और सारी जिम्मेदारी ले ली थी। कभी-कभी मुझे बहुत अफसोस होता है कि यदि काशी पर यह बोझ न होता तो वह और जाने क्या बन गये होते। लेकिन मैं लाचार था। मैं निश्चिन्त हो गया था काशी पर सब कुछ छोड करके।"[5]

डॉ. नामवर सिंह का विवाह सन् 1945 में उनके हाईस्कूल पास होते ही संपन्न हुआ। पिता के दबाव के कारण जो विवाह हुआ, उसके साथ वे न्याय नहीं कर सके। वे स्वीकार करते हैं कि वे पारिवारिक आदमी कभी नहीं बन सके। यह ग्लानि वे इस प्रकार प्रकट करते हैं- "पिता जी ने मेरी इच्छा के विरुद्ध मेरा विवाह किया था, सही है लेकिन उसका दण्ड मेरी पत्नी भोगे, यह उचित नहीं, यह मैं जानता था और जानता हूँ; लेकिन जाने क्यों मन में ऐसी गाँठ थी कि मैं पत्नी को पति का सुख नहीं दे सका। आज तक। कारण जो हो, मैं उसका विश्लेषण नहीं करता, लेकिन इसका दु:ख मेरे मन में रहेगा ही कि इतना पढने, लिखने, मानवीय संवेदना की बातें करने के बावजूद मैं अपनी पत्नी को सुख नहीं दे सका।"[6]

वर्षों तक नामवर जी ने अपने आप को परिवार के सुख से वंचित रखा। अंतत: जब पुत्री समीक्षा साथ रहने लगी तो उन्हीं के कथनानुसार उनके 'सब रीते घट भर गये।' सालों अलग रहने के बाद पिता और पुत्री जब एक साथ रहते हैं तो संबंध का

---

5. सं. भरत यायावर : नामवर सिंह- आलोचना के रचना पुरुष, पृ.460
6. वही, पृ.462

अभूतपूर्व सुख अनायास ही निराला और सरोज की स्मृति जगाता है। नामवर जी कहते हैं- "मेरी जिन्दगी जैसी रही उसमें जो संवेदनाशील मनुष्य मुझमें है, वह मेरी बेटी ने बनाया है। मैं दिल्ली में रहा, वह बनारस में अपने चाचा के घर में रही। पिता से दूर रहती पुत्री पिता के पास रहने को लालायित होते हुए भी पिता से डरती थी। मैंने अपने छोटे भाई काशी को कहा कि जीवन बहुत खाली लगने लगा है, मैं बेटी को पास रखना चाहता हूँ। बेटी के आते ही मेरा घर घर हो गया। आज लगता है मैं उसी के लिये जीता हूँ। उसे कुछ कहने की जरूरत नहीं पडती। माँ की तरह वह सब कुछ समझ जाती है।"[7]

नामवर जी के परिवार का विवरण उनके मित्रों का उल्लेख किये बिना पूर्ण नहीं हो सकता। साहित्यिक सहमतियों और असहमतियों के बीच उनके निजी मित्रता के संबध बने रहे। विजयदेव नारायण साही, राजेन्द्र यादव, मन्नू भण्डारी, निर्मला जैन, शीला संधु, हरदेव संधु, देवीशंकर अवस्थी, विश्वनाथ त्रिपाठी, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, कुंवर नारायण, केदारनाथ सिंह आदि इनमें कतिपय उल्लेखनीय नाम हैं। उनके गैर साहित्यिक मित्र हैं एडवोकेट नगेन्द्र प्रसाद सिंह और मार्कण्डेय सिंह।

(ख) विश्वविद्यालयी परिवेश

अध्ययन और अध्यापन हेतु नामवर जी ने जीवन का एक महत्वपूर्ण भाग विश्वविद्यालयी परिवेश में गुजारा है। 'कविता के नये प्रतिमान' को छोडकर शेष सभी कृतियों की रचना भूमि भी वही है।

---

7. सं. भरत यायावर : नामवर सिंह- आलोचना के रचना पुरुष, पृ.27

छात्र के रूप में वे पहले पहल सन् 1949 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय के प्रांगण में आये। वहाँ पं. केशव प्रसाद मिश्र उनके पहले गुरु थे। उन्हीं की प्रेरणा से नामवर जी ने 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग' नाम से एम.ए. केलिये शोध प्रबंध तैयार किया। केशव जी से उन्होंने शब्द विवेक पाया। सन् 1950 में केशव जी के उत्तराधिकारी के रूप में हजारीप्रसाद द्विवेदी जी काशी हिंदु विश्वविद्यालय में आये। नामवर जी उनके अग्रश्रवा शिष्य थे। द्विवेदी जी से उनका गहरा बौद्धिक, सृजनात्मक संबंध बना। नामवर जी के व्यक्तित्व रूपायन में इस संबंध का योगदान अतुल्य है। द्विवेदी जी ने ही वस्तुतः 'बाँस की नोकें छीलने' का कार्य किया था। इसका उल्लेख नामवर जी इस प्रकार करते हैं. "आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी सन् 1950 में शांति निकेतन से काशी हिंदु विश्वविद्यालय आये। वैसे उनकी रचनाओं से तो मैं पहले से परिचित था लेकिन साक्षात् मिलने और उनके समीप आकर जानने और सीखने की बात कुछ और ही होती है। पहली बात जो हुई वो यह कि भारतीय परंपरा के बारे में औसत हिंदी वालों का दृष्टिकोण था, उससे बहुत सी बातों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की परंपरा संबंधी धारणा भिन्न थी। एक तो हम लोग हिंदी के विद्यार्थी के नाते बहुत से बहुत दसवीं शताब्दी तक जाते थे, जहाँ से हिंदी साहित्य शुरू होता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उससे परंपरा का विस्तार संस्कृत साहित्य तक किया। यही नहीं बल्कि प्राकृतों और अपभ्रंशों की परंपरा से भी जोडा, जिसमें मेरी गहरी रुचि थी।

दूसरी तो महत्वपूर्ण बाद यह थी कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के माध्यम से पहली बार मुझे मालूम हुआ कि हमारे साहित्य की कोई एक 'परंपरा' नहीं है बल्कि परंपरायें हैं और कदाचित् उन परंपराओं से कहीं ज्यादा जीवंत सार्थक, आज केलिये

प्रासंगिक वह परंपरा है जो स्थापित परंपरा के विरुद्ध विद्रोह करती है, कबीर के माध्यम से उन्होंने दिखाने की कोशिश की कि हिंदी वाले, जो आम तौर से तुलसीदास या सूर की परंपरा को ही मुख्य धारा मानते रहे हैं; उस परंपरा के समानांतर, सब कुछ को अस्वीकार करने का अपार साहस लेकर पैदा होने वाले कबीर की परंपरा कहीं ज्यादा सार्थक है। काशी के भीतर जैसे दो काशी थी, एक तो काशी के पंडित तुलसीदास थे और दूसरे उसी काशी का जुलाहा था। द्विवेदी जी ने उसी काशी के जुलाहे की परंपरा की ओर ध्यान आकृष्ट किया जो शायद हमारे लोक जीवन और उस सामान्य जीवन की चेतना को साहित्य में व्यक्त करने वाली थी। इस दूसरी परंपरा का एहसास, अगर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी न होते, तो कम से कम मुझे न होता।"[8] अस्वीकार का साहस, व्यक्तित्व की तेजस्विता, संतुलित होते हुए भी पक्षधर दृष्टि, भारतीय संस्कृति की सही पहचान तथा उसके शुद्धीकरण के प्रति जागरूकता, हिन्दी के पाठ्यक्रमों की अपर्याप्तता का बोध आदि कतिपय ऐसे गुण है जो नामवर जी द्वारा अपने गुरु द्विवेदी जी से आर्जित किये हुए प्रतीत होते हैं।

सन् 1953 में काशी हिंदु विश्वविद्यालय के उसी हिंदी विभाग में नामवर जी को प्राध्यापक के अस्थायी पद पर नियुक्ति मिली जहाँ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी विभागाध्यक्ष थे। गैरसाहित्यिक विद्यार्थियों को सामान्य हिंदी पढाते हुए उन्होंने अध्यापन कार्य आरंभ किया। उनकी अध्यापन क्षमता का प्रमाण वह क्लास रूम था जो उस कक्षा के विद्यार्थियों, अन्य कक्षाओं के विद्यार्थियों एवं यहाँ तक कि शहर के अन्य कालेजों के विद्यार्थियों से भरा होता था। यही कारण है कि नामवर जी को

---

8. पूर्वग्रह अंक- 80 मई जून 1987

आर्थिक अभाव के बावजूद, वे दिन अपने अध्यापकीय जीवन के सबसे सुनहरे दिवस लगते हैं। वे द्विवेदी जी के प्रिय शिष्य थे, छात्रों के बीच सर्वाधिक लोकप्रिय अध्यापक थे और कम्यूनिस्ट भी थे- इन्हीं कारणों से उनके विरोधियों की संख्या बहुत थी, जो उन्हें उस अस्थायी पद से निकालने की कोशिश कर रहे थे। यह अवसर उन्हें तब मिला जब सन् 1959 में नामवर जी विश्वविद्यालय के अनुमति न देने पर भी चकिया-चंदौली उपचुनाव में कम्यूनिस्ट पार्टी के उम्मीदवार बने। चुनाव में वे हार गये और विश्वविद्यालय की नौकरी से निष्कासित भी कर दिये गये।

नामवर जी के व्यक्तित्व-रुपायन में काशी की उल्लेखनीय भूमिका है। उस शहर में वह घाट है जहाँ तुलसीदास रहते थे। कबीर का 'कबीर चौरा मुहल्ला' भी वहीं है। प्रेमचंद, प्रसाद व रामचंद्र शुक्ल भी इन्हीं गलियों में रहते थे। नामवर जी इस परिवेश के अभिन्न अंग थे। वे लिखते हैं, "काशी जैसे पारम्परिक और प्राचीन नगर में रहो के कारण मुझमें अपनी परंपरा को जानने समझने की ललक स्वाभाविक थी। दूसरों के लिये परंपरा किताबों में होगी, बनारस में परंपरा सडक पर चलते हुए मिलती है। गली में घूमते हुए मिलेगी। घाट पर जाइये, वहाँ मिलेगी। काशीवास ने सहज ही मुझे अपनी पुरानी परंपरा का मजबूत आधार सुलभ कर दिया।"[9] काशी से इस लगाव के कारण ही काशी हिंदु विश्वविद्यालय से निष्कासन केवल नौकरी छूटने का संदर्भ नहीं था। यह अपने जडों से और अपनी परंपरा से अलगाव का अवसर था। इसीलिये केदारनाथ सिंह लिखते हैं- "वे आज भी एक बनारस ढूँढते हैं। बनारस वह आर्कटाइप है जिसको वे बराबर अनेक स्तर पर, साहित्य के भीतर-बाहर लगातार खोजते हैं।"[10]

---

9. सं. भरत यायावर : नामवर सिंह- आलोचना के रचना पुरुष, पृ.500
10. सं. सुधीश पचौरी : नामवर के विमर्श, पृ.79

जुलाई 1959 में असिस्टेंट प्रोफेसर के पद पर सागर विश्वविद्यालय में नियुक्ति हुई। वहाँ आचार्य नंददुलारे वाजपेयी विभागाध्यक्ष थे। अत्यंत लोकप्रिय अध्यापक और अच्छी साहित्यिक समझ वाले व्यक्ति होने के बावजूद नामवर जी के स्वाभिमानी और अड़िग स्वभाव के कारण विद्वेषियों की संख्या यहाँ भी काशी से कम नहीं थी। अगले ही वर्ष उन्हें अकारण सेवामुक्त कर दिया गया। महेन्द्र फुसकेले 'सागर में नामवर सिंह' में लिखते हैं- "विवादों तथा मंत्रमुग्ध कर देने वाली वक्तव्य शैली ने नामवर सिंह को उन दिनों सागर में विवादों में घेरा, तो आज तक वे उनसे घिरे हुए हैं। 'आ बैल मुझे मार' की कहावत को चरितार्थ करते हुए नामवर सिंह अपने विचारों के कारण स्वयं विवादों को आमंत्रित करते हैं। जीअनपुर के सुत में स्वाभिमान, प्रतिबद्धता, पैनी दृष्टि, गहन अध्ययनशीलता तथा वैचारिक प्रहार शैली आकंठ भरी हुई है। परिवीक्षा अवधि पूर्ण होने से पूर्व उन्हें विश्वविद्यालय से अकस्मात आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी की पहल पर सन् 1960 में सेवामुक्त कर दिया गया। बगैर कुछ किये तथा बगैर कुछ कहे वे सागर से चले गये थे।"[11]

देश के दो सांस्कृतिक केन्द्र माने जानेवाले वाराणसी तथा इलाहाबाद के प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों में शिक्षक तथा प्रशासक वर्ग की दूषित राजनीति के परिणामस्वरूप नामवर जी निर्वासित कर दिये गये। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि इस निर्वासन के वर्षों बाद सन् 1974 में काशी हिंदु विश्वविद्यालय की ओर से उन्हें ताम्र-पत्र देकर सम्मानित किया गया। सन् 1999 में सागर विश्वविद्यालय की ओर से, जो अब हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय कहलाता है, उन्हें व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया गया और अलग से सम्मानित भी किया गया। व्यक्तिगत अनुभवों की रोशनी में

---

11. सं. कमला प्रसाद : नामवर सिंह आलोचना की दूसरी परंपरा, पृ.420

ही तो नामवर जी ने लिखा है- "हिंदी विभागों की प्रतिगामिता की एक अभिव्यक्ति है असहमति का सर्वथा दमन। यथास्थितिवाद और अधिनायकवाद का पहला मंत्र है- पूर्ण सहमति। यह मंत्र हिन्दी विभागों के अध्यक्षों से लेकर समस्त छात्रों तक के बीच के आपसी संबंधों का विधायक नियम है। इस वातावरण में विचारों का विरोध भी व्यक्तिगत विरोध मालूम पडता है। जाहिर है ऐसी स्थिति में विचारों का विकास होना असंभव है। इसलिये इतने अधिक विश्वविद्यालय खुलने तथा शिक्षकों एवं छात्रों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि होने के बावजूद विश्वविद्यालयों में हिंदी आलोचना का कोई उल्लेख्य विकास न हो सका।"[12]

सन् 1969 में कुलपति तथा शिक्षाविद् प्रो.वी.वी. जॉन के आमंत्रण पर नामवर जी ने जोधपुर विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष का कार्य-भार संभाला। डॉ. सूरज पालीवाल 'जोधपुर के नामवर सिंह' को इस प्रकार स्मरण करते है- "नामवर जी उस समय लगभग तैंतालीस वर्ष के थे। पूरी ऊर्जा और क्षमता के साथ वे एक सपना लेकर जोधपुर आये थे, जिसे वे पूरा करना चाहते थे। यह सपना उन्होंने आचार्य द्विवेदी के साथ देखा था लेकिन टूटे हुए सपनों की हताशा में जीने वाले आदमी नामवर सिंह कभी नहीं रहे। वे तो नामवर सिंह हैं, इसलिए ऐसे सपनों को बार-बार पूरा करना चाहते हैं जिसे दूसरे तोडना चाहते हैं।"[13]

विश्वविद्यालयों में हिंदी के पाठ्यक्रमों तथा हिंदी की छवि के संबंध में नामवर जी के जो आदर्श थे उन्हें वे जोधपुर में ही लागू कर सके। जोधपुर विश्वविद्यालय के

---

12. नामवर सिंह : वाद विवाद संवाद, पृ.133
13. सं. कमला प्रसाद : नामवर सिंह- आलोचना की दूसरी परंपरा, पृ.436

साथ उनका यह संबंध लगातार बना रहा और सन् 2002 से तो प्रतिवर्ष वहाँ 'नामवर मानविकी व्याख्यान माला' का आयोजन होता है। जोधपुर में नामवर जी को आचार्य पद प्राप्त हुआ, स्थायित्व मिला और अपनी इच्छानुसार विभाग का पुर्नगठन करने की पूरी छूट मिली। परंतु जोधपुर तो दिल्ली, इलाहाबाद या बनारस के समान हिंदी का गढ नहीं था इसलिये उस असंतोष के कारण अंतत: 1974 में उन्होंने दिल्ली स्थित जे.एन.यू. के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

एक नवंबर सन् उन्नीस सौ चौहत्तर को जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केन्द्र में नामवर सिंह ने संस्थापक, अध्यक्ष और प्रोफसर का कार्यभार संभाला। इस विश्वविद्यालय की स्थापना उच्च शिक्षा के क्षेत्र में प्रचलित रूढियों को तोडकर एक नई अकादमिक संस्कृति गढने के उद्देश्य से हुई थी। वामपंथी विचारों का वर्चस्व भी था। नामवर जी जे.एन.यू. में अपने कार्य काल के विषय में लिखते हैं "जे.एन.यू. में खाली पाठ्यक्रम की कूपमंडूकता तोडने का प्रश्न नहीं था। यह सिद्ध करना भी जरूरी था कि वहाँ जो बौद्धिक स्तर है, उस स्तर पर हिन्दी के अध्यापक और विद्यार्थी दिखाई पडें। ऐसा न हो कि अन्य विभाग के अध्यापक तो प्रोफसर लगें और हिंदी के अध्यापक प्राइमरी के मास्टर लगें। मुझे संतोष है कि हमारे सेंटर ने जल्द दिखा दिया कि हम किसी से नीचे नहीं हैं। जिस सेंटर में केदारनाथ सिंह जैसा कवि, मैनेजर पाण्डेय जैसा आलोचक और विचारक हो, पुरुषोत्तम अग्रवाल जैसा तेजस्वी बौद्धिक हो वीर भारत तलवार जैसा गम्भीर खोजी हो, वह उपेक्षणीय नहीं हो सकता।"[14] नामवर जी अध्यापकीय रूढियों से मुक्त अध्यापक हैं। वे छात्रों की असहमति को

---

14. सं. भरत यायावर : नामवर सिंह- आलोचना के रचना पुरुष, पृ.275

अनुशासनहीनता नहीं मानते। अपनी भाषा के प्रति सजग और संवेदनशील दृष्टिवाले छात्रों को ढालना ही उनके अध्यापन का मूल आदर्श है।

विविध स्तरों पर हिंदी पठन का पाठ्यक्रम तैयार करके उन्होंने साहित्य के विद्यार्थियों को स्तरीय लेखन से परिचित किया। पूर्ववर्ती पाठ्यक्रम का अध्ययन करने वाले हिंदी छात्र की पहुँच छायावाद तक सीमित थी। द्विवेदी जी भी मानते हैं कि जयशंकर प्रसाद हिंदी पाठ्यक्रम में 'आलू' के समान हैं, उन्हीं की कवितायें, उपन्यास और कहानियाँ भी पढाई जाती थी। नामवर जी ने तत्कालीन स्थिति के प्रति साहित्य चिंतकों को सतर्क करते हुए कहा- "वर्तमान स्थिति में कुल मिलाकर विश्वविद्यालय के हिंदी विभागों की देन यह है कि औसत छात्र एक ओर नितांत 'साहित्यिक' हिंदी लिखना सीखता है और दूसरी ओर श्रेष्ठ साहित्यिक ग्रंथों से घृणा करना। इस योग्यता के साथ वह या तो कहीं शिक्षक होने के लिये अभिशप्त है या फिर किसी दफ्तर में अनुवादक। विश्वविद्यालय से जो साहित्यिक भाषा और जो साहित्यिक रूचि लेकर वह बाहर निकलता है उनसे तो वह लेखक होने से रहा। आकस्मिक नहीं कि हिंदी के अधिकांश साहित्यकार- जिनमें रचनाकार और आलोचक दोनों शामिल हैं -हिंदी के अलावा किसी अन्य विषय के छात्र रहे हैं अथवा उन्होंने कम से कम किसी हिंदी विभाग से शिक्षा तो नहीं पायी है।"[15]

नामवर जी ने शिक्षा-व्यवस्था की कमजोरियों पर गंभीरता से विचार किया और उनके निवारण के लिये सांस्कृतिक क्रांति की माँग की थी। इस दिशा में उठाया गया महत्वपूर्ण कदम था पाठ्यक्रम के ढाँचे में उनके द्वारा आमूल परिवर्तन। तमाम विरोधों

---

15. नामवर सिंह : वाद विवाद संवाद, पृ.133

और विवादों को अनदेखा करते हुए उन्होंने जोधपूर विश्वविद्यालय से यह काम आरंभ किया और जे.एन.यू. में उसे पूर्ण रूप से विकसित किया। अनिवार्य हिंदी के छात्रों के लिये उर्दू रचनाओं का अध्ययन भी अनिवार्य बना दिया। कविता को प्रसाद और निराला से आगे बढाते हुए अज्ञेय, मुक्तिबोध, कुँवर नारायण और शमशेर बहादुर सिंह का साहित्य भी जोडा। भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के परम्परागत ढाँचे को बदलकर आचार्य शुक्ल, अभिनव गुप्त तथा टी.एस. इलियट के साथ हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा रामविलास शर्मा को पाठ्यक्रम में रखा। कथा साहित्य के अध्ययन हेतु उन्होंने कुँवर नारायण, धर्मवीर भारती, कृष्णबलदेव वैद, यशपाल, रेणु, राही मासूम रजा आदि को चुना। पाठ्यक्रम निर्माण के क्षेत्र में नामवर जी के योगदान की चर्चा करते हुए डॉ. रामबक्ष लिखते हैं- "यह कहना शायद अत्युक्ति न होगी कि यह उनके पाठ्यक्रम और उनके अध्यापकीय व्यक्तित्व का ही असर है कि भीषण बेरोजगारी के इस दौर में भी डॉ. नामवर के छात्र बेरोजगार नहीं है। शायद कोई एकाध हो तो हो। बाद में नामवर सिंह ने राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् (NCERT), नई दिल्ली में भी हिंदी का पाठ्यक्रम तैयार किया। यदि इस पाठ्यक्रम को भी ध्यान में रखा जाये तो एम.ए., एम.फिल. तक के पाठ्यक्रम को मिलाकर देखने से उनके पाठ्यक्रम संबंधी सुसंगत चिंतन का पता चलता है। हिंदी के प्रोफसरों में डॉ. नामवर सिंह अकेले प्रोफेसर हैं जिन्होंने यह कार्य किया है। विश्वविद्यालयों में हिंदी पाठ्यक्रम के इतिहास पर जब विचार किया जायेगा, तब उनके इस ऐतिहासिक योगदान को अच्छी तरह रेखांकित किया जायेगा।"[16]

---

16. सं. सुधीश पचौरी : नामवर के विमर्श, पृ.102

डॉ. नामवर सिंह ने अपने तीन दशकों के अध्यापन कार्य द्वारा अपने गुरु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समान ही उच्च शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिये। पाठ्यक्रम के कालोचित बदलाव की प्रेरणा और दृष्टि भी उन्हीं से पायी। विश्वविद्यालय के विषाक्त वातावरण से परेशान नामवर जी को द्विवेदी जी का उपदेश था- "एक चीज याद रखो, विरोध उसी का होता है जिसमें तेज होता है। विरोध से ही शक्ति नापी जाती है। जब छोटी सी चिंगारी दिखाई पडती है तो लोग घी नहीं पानी डालते हैं।"[17] इस कथन से बल पाकर नामवर जी ने अपना संघर्ष जारी रखा। अपनी व्यक्तिगत अभावग्रस्तता के बीच वे उत्साह के साथ पाठ्यक्रम बदलने, उसे यथोचित ढंग से पढाने तथा विद्यार्थियों को साहित्यिक समझ देने में व्यस्त रहे। उनका लेखन कार्य भी अध्यापन में बाधक नहीं वरन् सदैव साधक रहा।

(ग) साहित्यिक-राजनीतिक वातावरण

प्रगतिशील लेखक संघ का पहला अधिवेशन लखनऊ में सन् 1936 में हुआ। प्रेमचंद अध्यक्ष थे। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने साहित्य के बदलते स्वरूप और लेखकों के कार्यभार की चर्चा विस्तृत रूप से की। उन्होंने साहित्य की नई भूमिका तय करने और नई सौंदर्य दृष्टि अपनाने की बात की थी। उनके चिंतन की उदात्तता इस बात में थी कि वे मनुष्य की शोषण से मुक्ति चाहते थे। उन्होंने 'सुलानेवाले साहित्य की नहीं, जगाने वाले साहित्य' की बात की थी। जागरण के साहित्य के अनुरूप नवीन सौंदर्य शास्त्र का सवाल उठाया था। प्रेमचंद के इस लखनऊ व्याख्यान ने मार्क्सवादी आलोचना के प्रार्दुभाव और क्रमिक विकास में सार्थक भूमिका निभाई। आलोचक

---

17. सं. भरत यायावर : नामवर सिंह- आलोचना के रचना पुरुष, पृ.470

नामवर सिंह के रुपायन में प्रगतिशील लेखक संघ की भी उल्लेखनीय भूमिका है। नामवर जी लिखते हैं- "संस्थाओं के ही प्रसंग में कहना है कि प्रगतिशील लेखक संघ के संपर्क में मैं यदि न आया होता, तो आलोचक न होता। जहाँ तक मुझे याद है कि सन् 1945 तक मैं केवल कवितायें ही लिखता था। न आलोचना लिखी थी न उसे लिखने की इच्छा थी। गीत वीत के लिए प्रेम जरूरी था, वह था ही नहीं जिन्दगी में, इसलिए मैं ज्यादातर प्रकृति की कवितायें लिखता था। उसी में मेरी रुचि थी। तय कर लिया था कि आलोचना नहीं लिखूँगा। आलोचना बेकार का काम है। पढने-वढने तक तो ठीक है, लेकिन आलोचना लिखने की चीज है, यह तब मैं सोच भी नहीं सकता था। गोष्ठियों में भी लोग मुझसे कविता सुनाने केलिए ही कहते। मेरा रूपान्तरण किया प्रगतिशील लेखक संघ की गोष्ठियों ने। उसकी गोष्ठियों में जो बहस होती थी, पढी गयी रचनाओं पर जो वैचारिक चर्चा होती थी और जो लेख पढे जाते थे उन सब ने मेरी दृष्टि बदल दी। संयोग की बात है, उन्हीं दिनों बाँस फाटक पर एक मार्क्सवादी किताबों की दूकान थी, उसने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जिस तीसरी चीज ने असर डाला, वह थी उस जमाने की 'हंस' पत्रिका। शिवदान सिंह चौहान जेल चले गये थे, तो 'हंस' के तीन-चार अंकों का सम्पादन रामविलास जी ने किया। उन्होंने तीन अंक प्रगतिवाद पर निकाले। उपर्युक्त तीन चीजों ने मेरी दिशा बदल दी।"[18]

चौथा दशक मार्क्सवादी तथा मार्क्सवाद विरोधी विचारधाराओं के बीच संघर्ष का दौर था। घोषित रूप से मार्क्सवाद को आलोचना का आधार बनाने वालों में शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचंद्र गुप्त तथा रामविलास शर्मा अग्रणी हैं। प्रगतिवादी साहित्य की मानवतावादी, युद्ध विरोधी भूमिका के कारण अनेक ऐसे लेखक भी इसके

---

18. सं.भरत यायावर, : नामवर सिंह- आलोचना के रचना पुरुष, पृ.479

समर्थक थे जो सच्चे अर्थों में आंदोलन से सहानुभूति नहीं रखते थे। सहयोग की यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रही। आगे हिंदी साहित्य के परिदृश्य में शिविर बद्धता और शीत युद्ध का दौर देखा गया। इलाहाबाद में गठित 'परिमल' नामक संस्था ने प्रगतिवाद के विरुद्ध असहमति को घोषित किया। मधुरेश तत्कालीन साहित्यिक परिदृश्य को इस प्रकार प्रस्तुत करते है- "धीरे-धीरे संयुक्त मोर्चे की विफलता और प्रगतिशील लेखक संघ पर पार्टी-नीतियों का अंकुश कुछ ऐसे कारण बने जिनकी वजह से सहयोग और आंशिक सहमति की स्थिति अधिक देर और दूर तक संभव नहीं रही। सोवियत संघ में सत्ता के निरंकुश दमन का पूँजीवादी प्रचार, जिसमें थोडा बहुत सच भी होता था, व्यक्ति स्वातंत्र्य आदि मुद्दों को लेकर यह खाई क्रमशः बढती गई। भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी और प्रगतिशील लेखक संघ की नीतियों के विरोध में नेमिचंद्र जैन, भारत भूषण अग्रवाल और नरेश मेहता 'गॉड दैट फेल्ड' की शैली में उग्र और उत्तेजक बयान दे रहे थे। यह विश्व राजनीति में दो घोर विरोधी ध्रुवों के बीच भयंकर शीतयुद्ध का दौर था। इसकी स्पष्ट और बढती हुई छायायें इस दौर के हिन्दी साहित्य में भी देखी जा सकती हैं। यही वह दौर था जब अनुभूति की गहराई को आधार बनाकर प्रेमचंद के व्यापक विरोध की प्रक्रिया शुरू हुई। प्रगतिवादी लेखकों को प्रचारवादी कहकर लांछित किया गया।

पहले यह विरोध सीमित क्षेत्र में था, फिर धीरे-धीरे उसका दायरा बढता गया। बाद में एक ऐसा दौर भी आया जिसमें प्रगविवाद का विरोध ही इन लेखकों की सहमति और सक्रियता का एक व्यापक आधार बन गया। इलाहाबाद में चूँकि प्रगतिवादी गतिविधियाँ खूब सक्रिय थी, एक तरह से वह देश की साहित्यिक-सांस्कृतिक राजधानी था, प्रगतिवाद के विरोध में भी आवाज सबसे पहले वहीं उठी। इलाहाबाद में

ही गठित 'परिमल' नामक संस्था की भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका थी। इस संस्था के गठन में मूख्य भूमिका भी इलाहाबाद के ही स्थानीय लेखकों- धर्मवीर भारती, केशवचंद्र वर्मा, लक्ष्मीकांत वर्मा, रघुवंश आदि की थी। लेकिन धीरे-धीरे, किसी न किसी स्तर पर वे सब लोग इससे जुडते गये जो भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी और प्रगतिशील लेखक संघ से जुडे लेखकों की रीति-नीति से असंतुष्ट और क्षुब्ध थे।"[19]

मार्क्सवाद विरोधी 'परिमल' से जुडे साहित्यकारों ने आत्मबोध को साहित्य के केन्द्र में रखा। उसे राजनीति से अलग रखने, रचनात्मकता को प्रतिबद्धता से मुक्त करने और आलोचना के जरिये प्रेमचंद, नागार्जुन आदि का अवमूल्यन करने की कोशिशें हो रही थी। प्रेमचंद पर कलात्मक श्रेष्ठता की कमी और गहराई के अभाव तथा नागार्जुन पर खुरदुरेपन का आरोप लगाया गया। ऐसे समय में डॉ. रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृत राय आदि ने यथार्थवाद के पक्ष में आलोचनात्मक संघर्ष जारी रखा।

डॉ. नामवर सिंह ने अपनी आलोचना द्वारा वैचारिक संघर्ष के इस दौर में प्रभावकारी हस्तक्षेप किया। उन्होंने खुलकर जनवादी प्रगतिशील कलामूल्यों और मानदण्डों की पैरवी की। साथ ही उन्होंने साहित्यिक मानदण्डों की अवहेलना नहीं की। वाम विचारधारा वाले सर्जकों की भी उन्होंने सकारात्मक आलोचना की। नामवर जी ने आलोचना को अतिवादों से बचाकर जीवन सापेक्ष कलात्मकता को स्थापित करने का सफल प्रयास किया। मार्क्सवाद उनका बुनियादी दृष्टिकोण है लेकिन उनकी आस्था, सर्जनशील साहित्य में है। नामवर जी के इस

---

19. मधुरेश : हिन्दी आलोचना का विकास , पृ.199

आलोचकीय विवेक की चर्चा करते हुए जीवन सिंह लिखते है- "नामवर जी की खासियत यह रही है कि काव्य संस्कृति के जिस मोर्चे को उन्होंने संभाला, उसकी प्रकृति, उसकी सापेक्ष स्वायत्तता को ध्यान में रखकर काम किया। उनके औजार-उपकरण साहित्य के औजार उपकरण रहे। राजनीति और विचारधारा के सवालों में उन्होंने साहित्य का गणित हल नहीं किया वरन् साहित्य की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए पूरे जीवन को उन्होंने अपने नजरिये से देखा और साहित्य को समग्रता में जानते हुए परम्परा एवं समकालीनता के अंत:संबंधों का निरूपण किया। एक ओर वे साहित्य की सापेक्ष स्वायत्तता के लिये मैदान में रहे तो दूसरी ओर जीवन निरपेक्ष कलावादियों के प्रतिपक्ष में।"[20]

डॉ. नामवर सिंह का आलोचना साहित्य- एक सर्वेक्षण

नामवर सिंह ने साहित्यिक जीवन की शुरुवात काव्य रचना से की। 'पुनीत' उपनाम रखकर वे ब्रजभाषा में कवितायें लिखते थे। घनाक्षरी और सवैया छंदों में तुकबंदी करनेवाले नामवर जी हाई स्कूल शिक्षा के दौरान त्रिलोचन जी के संपर्क में आये। उन्हीं की प्रेरणा से खडी-बोली में सर्वप्रथम कविता लिखी। कुछ कवितायें 'नई-कविता' पत्रिका में छपी। लगभग दस वर्ष तक काव्य रचना से जुडे रहने के बाद उन्होंने आलोचना के क्षेत्र में पदार्पण किया। कवि से आलोचक बनने के संक्रमण का स्पष्टीकरण नामवर जी अशोक वाजपेयी से बातचीत में इस प्रकार देते हैं- "इस क्रम में मैं देखता हूँ तो कायदे से आलोचक बनने का और आलोचना लिखने का कोई इरादा मेरा नहीं था, आप ही की तरह कविता से मैं ने जीवन शुरु किया था। फिर एक ऐसा

---

20. सं.भरत यायावर, : नामवर सिंह- आलोचना के रचना पुरुष पृ.135

क्षण आया जब लगा कि ज्यादा सार्थक, बल्कि कहना चाहिए ज्यादा जरूरी आलोचना कर्म है और इस सिलसिले में पंडित किशोरीदास वाजपेयी की लिखी हुई चार पंक्तियाँ जो उन्होंने अपने बारे में कहीं थी, मुझे अपने बारे में ज्यादा सार्थक लगी। "सोचा मैं ने उष:काल में माँ के भजन सुनाऊँ/ अभिनव अर्थ उपार्जित करके अपनी भेंट चढाऊँ/ किंतु भक्त पद प्रक्षेपों से धूल यहाँ भरी थी/ रहा बुहार उसी को तब से यूँ ही उम्र गंवाई।" मैं भी सोचता था कि कविता के द्वारा सरस्वती की आराधना करूँगा लेकिन देखा कि भक्तों के कारण साहित्य का मंदिर धूल से भर गया है और उसकी सफाई ज्यादा जरूरी है, पूजा से पहले और झाड़ू उठा लिया, सफाई करने लगा, पैंतीस वर्षों से मैं केवल सफाई कर रहा हूँ।"[21] साहित्य क्षेत्र की सफाई का कार्य नामवर जी निस्संदेह सफलता से निभाते आ रहे हैं। मार्क्सवाद उनका सिद्धांत अवश्य है किंतु वह भी साहित्य को समाजशास्त्रीय सिद्धांत के रूप में न देखकर विशुद्ध साहित्य के रूप में देखने में बाधक नहीं। प्रकाशन वर्ष के क्रमानुसार नामवर जी की रचनायें निम्नलिखित है-

क्र.सं.	रचना	प्रकाशन वर्ष
1.	बकलम खुद (निबंध संग्रह)	1951
2.	हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग (शोध प्रबंध)	1952
3.	आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ (आलोचना)	1954
4.	छायावाद (आलोचना)	1955
5.	पृथ्वीराज रासो की भाषा (शोधप्रबंध)	1956

---

21. सं. समीक्षा ठाकुर : कहना न होगा, पृ.65

6. इतिहास और आलोचना (आलोचना)	1957
7. कहानी:नई कहानी (आलोचना)	1966
8. कविता के नये प्रतिमान(आलोचना)	1968
9. दूसरी परंपरा की खोज (आलोचना)	1982
10. वाद विवाद संवाद (आलोचना)	1989

नामवर जी के आलोचना कर्म की शुरूआत उनके शोध निबंध 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग' से हुई और बाद में इसी विषय के विस्तार के रूप में उन्होंने अपना शोध कार्य 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' पर किया। आगे चलकर उन्होंने नये से नये रचनाकारों की नवीनतम रचनाओं की समीक्षा की। प्राचीन के गहन अध्ययन के कारण नामवर जी की दृष्टि साहित्य के ऐतिहासिक विस्तार को समाहित करती है। अत: वे प्राचीन साहित्य की प्रासंगिकता नवीनतम के संदर्भ में तथा नवीनतम की प्रासंगिकता प्राचीन के संदर्भ में स्थापित कर पाते हैं। पुराने और नये के बीच संतुलन और नैरंतर्य स्थापित करने वाली अंर्तदृष्टि में ही उनकी विलक्षणता है।

'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' में नामवर जी ने हिंदी के संदर्भ में टिप्पणी की है कि साहित्य में 'वादों' की होड लगी है। उन्होंने अपने तर्कों द्वारा वादों की संख्या काट कर प्रमुख चार वादों- छायावाद, रहस्वाद, प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद को मान्यता दी और हिंदी के विशेष संदर्भ में उनका विश्लेषण किया। यह पुस्तक नामवर जी की सिद्धांत आधारित व्यवहारिक आलोचना का उत्तम उदाहरण है।

'छायावाद' पुस्तक द्वारा उन्होंने एक व्यापक काव्य आंदोलन के मूल्यांकन का मर्म पाठकों को समझाया। 'छायावाद' की ऐतिहासिक भूमिका का विश्लेषण करते हुए उन्होंने वैयक्तिक कहे जाने वाले 'छायावाद' के सामाजिक पक्ष का उद्घाटन बडी सूक्ष्मता से किया और स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता, नवजागरण, नारी नवोत्थान आदि तत्कालीन सामाजिक आंदोलनों के सदर्भ में छायावाद की भूमिका की व्याख्या की। उन्होंने अपने विश्लेषण से यह स्थापित किया कि- "छायावाद हिंदी साहित्य की परंपरा की एक महत्वपूर्ण कडी है। इसका जन्म हमारे साहित्य की विशेष सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों में हुआ और फिर विशेष परिस्थितियाँ उत्पन्न होने के कारण इसका पर्यवसान भी हो गया।"[22] छायावादी भावुकता, कल्पना, सार्वभौम का आकर्षण, मुक्त छंद, भाषा, शब्द चयन आदि प्रवृत्तियों का संबंध उन्होंने व्यक्तिवाद से जोडा। यह व्यक्तिवाद राष्ट्रीय जागरण का भी केन्द्र रहा है। "छायावाद उस राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है जो एक ओर पुरानी रूढियों से मुक्ति चाहता था और दूसरी ओर विदेशी पराधीनता से।"[23]

नामवर जी के पूर्ववर्ती और समकालीन आलोचकों ने समाजशास्त्रीय पद्धति से छायावाद की आलोचना की और उसे समाज विरोधी सिद्ध किया। साहित्य को सामाजिक दस्तावेज के रूप में देखने और उसका मूल्यांकन करने की रीति के विरुद्ध नामवर जी के संघर्ष का पहला प्रयास 'छायावाद' में देखा जा सकता है। इस पुस्तक की रचना के अनुप्रेरक कारणों के विषय में वे लिखते हैं- "छायावादी कविता पर

---

22. नामवर सिंह : छायावाद, पृ.152
23. वही, पृ.19

लिखना मैं ने इसलिए जरूरी समझा कि हिंदी के रोमाण्टिक कविता को आम तौर से उस समय के स्वाधीनता आंदोलन से अलग समझा जाता था। लोगों का ख्याल यह था कि यह कविता तो क्षितिज के पार देखने वाली है। मेरी कोशिश थी कि यह कविता, जिसका सीधा संबंध समाज और जीवन से दिखाई नहीं पडता कहीं ज्यादा गहराई से उस युग के मनुष्य की चिंताओं और युगचेतना को व्यक्त करती है और यदि छायावादी कविता के द्वारा यह चीज दिखाई जा सके तो प्रकारान्तर में कहीं न कहीं उस मान्यता को पुष्ट करेगी जहाँ साहित्य को साहित्य की तरह देखते हुए हम उसमें निहित सामाजिक छवियों और छायाओं को व्यक्त कर सकेंगे।''[24]

'इतिहास और आलोचना' की विज्ञप्ति में नामवर जी उस पुस्तक को 'छठे दशक के वैचारिक संघर्ष का विवाद-मूलक दस्तावेज' कहते हैं। प्रगतिवादी लेखकों के बीच एक ओर साहित्कार की आस्था, सामाजिक यथार्थ, लोक साहित्य और सामाजिक संकट पर ध्यान केन्द्रित किया जा रहा था वहीं परिमलवादियों में व्यक्ति स्वातंत्र्य, सत्ता और राजनीति, व्यापकता और गहराई आदि विषयों पर सक्रिय चर्चायें हो रही थी। नामवर जी के निबंध इसी वैचारिक संघर्ष में सक्रिय हिस्सेदारी से संबंधित है।

पहले ही निबंध 'व्यापकता और गहराई' में नामवर जी आलोचना के संपादक मंडल (धर्मवीर भारती और उनके सहयोगी लेखक) द्वारा प्रेमचंद के विरोध का सवाल उठाते हैं। वे व्यापकता और गहराई को परस्पर विरोधी नहीं मानते। उन्होंने गहराई को व्यापकता सापेक्ष बतलाते हुए कहा है- ''अनुभूति की गहराई की परीक्षा करते हुए हम अनिवार्य रूप से व्याप्ति में जा पडेंगे। किसी को गहराई तक प्रभावित करने का अर्थ है

---

24. सं. समीक्षा ठाकुर : कहना न होगा, पृ.67

उसके संपूर्ण व्यक्तित्व, अस्तित्व और भाव सत्ता को प्रभावित करना और बहुत देर तक प्रभावित करते रहना।"[25] इस संकलन में प्रसाद के काव्य और छायावादी आलोचना पर भी गंभीरता से विचार किया गया है। नामवर जी विस्तारपूर्वक छायावादी और प्रयोगवादी वास्तविकता के अंतर को भी अन्यत्र स्पष्ट करते हैं। 'प्रगतिशील वस्तु और प्रयोगवादी रूप' शीर्षक निबंध में वे शमशेर जैसे कवि के अन्तर्विरोध की चर्चा करते हैं। 'बर्ली के किसानों' और 'ग्वालियर के गोली कांड' के माध्यम से वे स्पष्ट करते हैं कि कैसे जनवादी काव्य वस्तु प्रयोगवादी शिल्प में अपनी शक्ति खो बैठती है। 'हिन्दी साहित्य के इतिहास पर पुनर्विचार' तथा 'इतिहास और आलोचना' नामक अंतिम दो निबंधों का रचना काल सन् 1961 है। इनमें मार्क्सवादी दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य के इतिहास की पुर्नव्याख्या की गई है। ये लेख इस दृष्टि से भी विशेष महत्वपूर्ण हैं कि इन में साहित्य के इतहिास लेखन की एक नई दिशा का स्पष्ट निर्देश मिलता है।

'इतिहास और आलोचना' पुस्तक में नामवर जी ने जिन प्रवृत्तियों को चुनौती देने का प्रयास किया है, वे किसी काल विशेष तक सीमित नहीं हैं। नये आवरण में उन्हें इस सदी में भी देखा जा सकता है। अत: नामवर जी के निबंधों की सार्थकता भी कालातीत है।

नई कहानी तथा उसके अनुरूप नये आलोचकीय मानदण्डों को केन्द्र में रखकर लिखी गई पुस्तक है- 'कहानी : नई कहानी'। नई कहानी जीवन के किसी लघु प्रसंग, मूड या विचार अथवा विशिष्ट व्यक्ति चरित्र को भी कथानक बनाती है। ऐसी कहानी की आलोचना कथानक, चरित्र, वातावरण, कथोपकथन, भाषा शैली, भावनात्मक

---

25. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ.12

प्रभाव आदि अवयवों में बाँट कर नहीं की जा सकती है। उसे एक इकाई के रूप में देखकर ही उसके कहानीपन की सफलता परखी जा सकती है। जीवन की छोटी से छोटी घटना को अर्थ प्रदान करने में ही उसकी सफलता है। 'प्रभावान्विति' को कहानी आलोचना का महत्वपूर्ण मानदण्ड मानते हुए वे निर्मल वर्मा की कहानियों की गणना हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में करते हैं।

इस पुस्तक की महत्वपूर्ण विशेषता है कि नामवर जी ने कथा साहित्य के विकास में पाठक समुदाय के योगदान के साथ ही कहानी पाठ की प्रक्रिया का विश्लेषण भी किया है। बने-बनाये प्रतिमानों के स्थान पर कहानी पाठ की प्रक्रिया से गुजरते हुए निर्मित प्रतिमान ही वांछनीय हैं। साधारण पाठक ही आगे चलकर आलोचक बनता है। इस बदलाव की प्रक्रिया के दौरान भी कहानी समीक्षा के प्रतिमान निर्मित होते हैं।

'कहानी नई कहानी' ने कथालोचना की परंपरा की सार्थक शुरुवात की और उसे एक स्तर भी प्रदान किया। नई कहानी पर केंद्रित इन लेखों की रचना करते समय स्पष्टत: नामवर जी की दृष्टि उसके पहले तथा उसके बाद के साहित्य पर भी जाती है। सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना के सुमेल के उत्तम निदर्शन है ये लेख।

'कविता के नये प्रतिमान' काव्य सिद्धांतों पर गंभीरता से विचार करने वाली पुस्तक है। इसके केन्द्र में मुक्तिबोध का साहित्य है। 'कविता क्या है?', 'कविता के नये प्रतिमान', 'रस के प्रतिमान की प्रसंगानुकूलता', 'काव्यबिंब और सपाटबयादी', 'विसंगति और विडंबना', 'अनुभूति की जटिलता और तनाव', 'परिवेश और मूल्य' आदि शीर्षकों के अंतर्गत उन्होंने काव्य-प्रक्रिया से संबंधित जटिल प्रश्नों पर गंभीरता से

विचार किया है। उन्होंने अपने मूल्यांकन को छायावाद से लेकर नई कविता और अकविता के दौर तक की रचनाओं से संदर्भित किया है। वे कविताओं के मर्म की व्याख्या करते हैं, प्रतिमान निर्माण उनका अभिप्रेत नहीं है। प्रतिमान तो रचनागत संवेदना और उसके स्वरूप के द्वन्द्वात्मक संबंधों में निहित होते हैं। महत्वपूर्ण है उन स्वत: बनते हुए प्रतिमानों को देखना और परखना। इस पुस्तक के संदर्भ में उन पर रूपवाद को उभारने का आरोप भी लगाया गया। इसका प्रत्युत्तर नामवर जी ने पुस्तक के अगले संस्करण में दिया। उनकी यह स्पष्ट धारणा है कि मार्क्सवादी साहित्य चिंतन विश्व में निरंतर विकसित हो रही चिंतन धाराओं से बचकर नहीं चल सकता। रूपवाद के आरोप को रद्द करते हुए भी उन्होंने इंग्लैंड की 'न्यू क्रिटिसिज्म' और उसके प्रणेता एफ. आर. लीविस का प्रभाव स्वीकार किया है।

'दूसरी परंपरा की खोज' में नामवर जी ने अपने गुरू आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के चिंतन और सृजन की मौलिकता को रेखांकित किया है। आठ अध्यायों की इस पुस्तक के प्रत्येक अध्याय में हजारीप्रसाद द्विवेदी की एक रचना को आधार बनाकर उस पर गहराई से विचार किया गया है। नामवर जी उस मौलिक इतिहास दृष्टि को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करते हैं जिसके आधार पर द्विवेदी जी ने भारतीय संस्कृति और साहित्य की लोकोन्मुखी क्रांतिकारी परम्परा को जीवित करने का प्रयत्न किया था।

'वाद विवाद संवाद' में समकालीन भाषा साहित्य और आलोचना कर्म की बुनियादी चिंताओं पर विचार किया गया है। इन निबंधों में प्रगतिशील चिंतन को वर्तमान संदर्भ में आगे बढाया गया है और मार्क्सवादी समीक्षा पर किये जाने वाले प्रहारों का साधार जवाब दिया गया है। 'मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के विकास की दिशा' जैसे

गंभीर लेख और 'विश्वविद्यालय में हिंदी' जैसे तीखे व्यंग्य लेख इस संग्रह को विचारोत्तेजक और वैविध्यपूर्ण बनाते हैं। स्पष्ट है कि वाद विवाद द्वारा संवाद की जनतांत्रिक पद्धति को नामवर जी आलोचना के विकास का जरूरी हिस्सा मानते हैं।

नामवर सिंह और 'आलोचना' का संपादकत्व

डॉ. नामवर सिंह के आलोचना कर्म में 'आलोचना' पत्रिका का संपादकत्व भी महत्वपूर्ण है। हिन्दी के साहित्यिक इतिहास में आलोचना पत्रिका का उल्लेखनीय स्थान है। इस पत्रिका ने अपने समय के साहित्यिक परिदृश्य में सार्थक हस्तक्षेप किया है। 'आलोचना' के संपादन के इतिहास पर उसके वर्तमान सहयोगी संपादक श्री परमानन्द श्रीवास्तव इस प्रकार रोशनी डालते हैं- "आलोचना के संपादन का अपना एक इतिहास है। 'आलोचना' के संपादक ही नहीं बदले, संपादन की दृष्टि भी बदली, जो अनिवार्यत: संपादकों के अपने आलोचनात्मक रुझान, अपनी साहित्य दृष्टि का प्रतिबिम्ब थी। 'आलोचना' के आरंभिक अंक प्रसिद्ध प्रगतिवादी समीक्षक शिवदान सिंह चौहान के संपादन में प्रकाशित हुए। उनके संपादन काल का सबसे महत्वपूर्ण अंक 'इतिहास विशेषांक' आज भी याद करने योग्य है, जिसकी योजना में नामवर सिंह की सार्थक भूमिका है। इतिहास लेखन की समस्याओं पर पुनर्विचार के लिए उत्तेजना पैदा करनेवाला उनका तीखा लेख आज भी पाठकों को याद है। 'आलोचना' का संपादन किया प्रख्यात आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने जिनका विश्वविद्यालयी अकादमिक आलोचना पर खासा आतंक था पर जिनके संपादन काल का एक भी अंक नहीं जो विचारोत्तेजक होने के नाते याद आता हो। उन्होंने सामान्यता या स्थूल

समग्रता की रूढि बनायी और उसी पर चले । 'आलोचना' का संपादन किया इलाहाबाद के परिमल स्कूल के आलोचकों-लेखकों के एक विशेष मंडल ने जिसके सदस्य थे- धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही, रघुवंश और ब्रजेश्वर वर्मा । भारती, साही आदि ने उसे शीतयुद्ध की विचारधारा को वहन करने वाला पत्र या मंच बनाया । मार्क्सवादी समीक्षा की कम्यूनिस्ट परिणति से चिन्तित इन संपादकों ने आलोचना को उस विचारधारा का प्रतिनिधि बनाया जिसे कृत्रिम गूढ पश्चिमोन्मुख आधुनिकता या आधुनिकतावाद कहेंगे । साथ ही वे कहीं न कहीं विश्वविद्यालयी अकादमिक आलोचना के प्रति गंभीर और विनयशील थे । उस दौर के अंकों का महत्व इसलिए है कि उन्होंने सीधे मार्क्सवादी साहित्य दृष्टि से टकराने की कोशिश की ।''[26]

'आलोचना' पत्रिका से राजकमल प्रकाशन की प्रतिष्ठा जुडी थी । श्रीमती शीला सन्धु ने शिवदान सिंह चौहान के स्थान पर नामवर जी को संपादक नियुक्त किया । नामवर जी ने आलोचना के संपादन की बागडोर सँभाली तो युवा लेखन को उन्होंने साहित्यिक परिदृश्य के केन्द्र में लाने की कोशिश की । भारतेन्दु,मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचंद, हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा रामचंद्र शुक्ल के साथ ही त्रिलोचन, मूक्तिबोध तथा धूमिल पर केन्द्रित अंक भी निकाले । उन्होंने हर अंक में एक संवाद बनाए रखने का योजनाबद्ध प्रयास किया । वे मानते हैं कि 'आलोचना' का क्षेत्र विशुद्ध साहित्यिक न होकर उससे कहीं अधिक व्यापक है । उसे हिन्दी तक सीमित न करके उन्होंने अन्य भारतीय भाषाओं तथा विदेश की भी महत्वपूर्ण साहित्यिक गतिविधियों से पाठकों को

---

26. दस्तावेज- अंक 52, जुलाई-सितंबर 1991, पृ. 23

परिचित किया। 'शैली विज्ञान' से भारतीय पाठकों का परिचय सर्वप्रथम 'आलोचना' ने ही करवाया।

'आलोचना' ने इसी काल में विशेष समकालीन सार्थकता प्राप्त की। नामवर जी ने 'आलोचना' में लम्बे और उत्तेजक 'सम्पादकीय वक्तव्य' लिखे जो उनके आलोचनात्मक संघर्ष के प्रमाण हैं। 1967 में उनके संपादन में आलोचना का जो प्रथम अंक निकला उसके संपादकीय में कविता और राजनीति के परस्पर संबंध को विश्लेषित करते हुए नामवर जी ने श्रेष्ठ राजनीतिक कविता का स्वरूप स्पष्ट किया। "अवश्य ही हर अच्छी कविता की तरह राजनीतिक कविता की रचना के भी अपने विशेष नियम हैं। नियम का अर्थ फार्मूला नहीं, बल्कि रचना में अन्तर्निहित नियम है। इस दृष्टि से बर्टोल्ट ब्रेख्ट की राजनीतिक कविताओं का अध्ययन आज के संदर्भ में प्रासंगिक है। राजनीतिक कविता में जिस सरलता और सपाटता से लोग इतना बिदकते हैं, ब्रेख्ट ने प्रतीकों और बिम्बों की भाषा को छोडकर सीधे उपदेशात्मकता के गद्य को कविता के लिये इस्तेमाल किया, फिर भी कोई कह नहीं सकता कि यह कविता नहीं है। स्पष्टत: उस सपाटबयानी का कवित्व उसकी नाटकीयता में होता है जिसका विधान ब्रेख्ट की अपनी खास निष्कवच आत्म-विडंबना करती है। यह आत्म विडंबना कोरा आलंकारिक नुस्खा नहीं बल्कि एक गहरी जीवन दृष्टि है जिसके मूल में ब्रेख्ट की अपनी परिपक्व राजनीतिक समझ है।"[27] छठे दशक में हिन्दी कविता ने राजनीति के प्रति जो रुझान दिखाया और कालान्तर में उन तथाकथित राजनीतिक कविताओं में जो असंगतियाँ आई, वे ही इस सम्पादकीय के प्रेरक तत्व हैं।

---

27. आलोचना (संपादकीय) जुलाई-सितम्बर, 1967

नामवर जी के संपादक-व्यक्तित्व में जिस वैचारिक संघर्ष की चर्चा की गई है वह उस संपादकीय में साफ दृष्टव्य है जिसमें वे त्रिलोचन और नागार्जुन की लोकधर्मी परंपरा के सूत्रों को प्राचीन संस्कृत काव्य में पहचान कर स्थूल वर्ग दृष्टि के कठमुल्लेपन को चुनौती देते हैं। "कविता की दूसरी परंपरा वह है जो लोकधर्मी है। यह लोकधर्मी काव्य परंपरा जितनी ऊर्जस्वी है, उतनी ही सूदीर्घ भी। वेदों की आदिम अग्नि में इसकी चिनगारियाँ मिल जायेंगी। किन्तु पुष्कल रूप में यह विद्याकर के ग्यारहवीं सदी के 'सुभाषितरत्न कोश' और श्रीधरदास के बारहवीं सदी के 'सुदुक्ति-कर्णामृत' में सुरक्षित है। इस कविता का अपना काव्य शास्त्र भी है। प्रभुत्वशाली काव्यशास्त्र ने उस कविता का भी तिरस्कार किया है और काव्य शास्त्र का भी।"[28]

नामवर जी के संपादकत्व में आलोचना पत्रिका केवल अपने समकालीन साहित्यिक परिदृश्य की निष्क्रिय जानकारी नहीं देती वरन् संवाद का जीवित सिलसिला बनाये रखती है। अप्रैल-जून 2000 में 'आलोचना' का सहस्राब्दी अंक निकला जिसमें उन्होंने इस पत्रिका को 'अग्निपक्षी' कहा जो अपनी राख से पुनर्जीवन पाती है। वे उस पुनर्नवा 'आलोचना' के माध्यम से फासीवाद और सांस्कृतिक संकट के संबंध में चेतावनी देते हैं।

"नामवर सिंह के संपादन में 'आलोचना' ने एक अर्थ में विशेष समकालीनता या समकालीन सार्थकता प्राप्त की। आधुनिकतावाद के विभिन्न रूपों से संघर्ष करते हुए नामवर सिंह ने आधुनिकता के सकारात्मक अवदान से हिन्दी पाठकों को परिचित कराना चाहा और सरल सपाट यथार्थवाद, अंधलोकवाद की सीमाएँ स्पष्ट की।

---

28. आलोचना, अक्टूबर-दिसम्बर, 1987

रचना की सापेक्ष स्वतंत्रता के कायल नामवर सिंह ने 'आलोचना' की एक पत्रिका के रूप में स्वयत्तता निर्बाध रखी। 'आलोचना' की एक अपनी विचारधारा भी हो सकती है पर साहित्य के स्वधर्म, साहित्य की अपनी क्षमता को नजरंदाज करके नहीं। इतिहास की चुनौती का सामना करते हुए विचारधाराओं के संघर्ष के प्रति जागरुक रहना नामवर सिंह को अपने लिये भी जरूरी जान पडा- आलोचना सरीखी पत्रिका के लिये भी।"[29] नामवर जी के संपादक रूप का अत्यंत सटीक मूल्यांकन उनके सहयोगी संपादक श्री. परमानन्द श्रीवास्तव के उपर्युक्त शब्दों में मिलता है।

आलोचना के विविध आयाम- नामवर जी का चिंतन पक्ष

आलोचना और रचना - 'कविता के नए प्रतिमान' के प्रथम संस्करण की भूमिका में नामवर जी रचना और आलोचना के पारस्परिक संबंध स्पष्ट करते हुये कहते हैं- "लेखक का विश्वास है कि जिस तरह वैयाकरण भाषा के शब्द नहीं बनाता, उसी तरह आलोचक भी काव्य के मूल्यों का निर्माण नहीं करता। शब्दानुशासन के समान ही काव्यानुशासन भी वस्तुत: अनुशासन है, शासन नहीं।"[30] स्पष्ट है कि वैयाकरण जिस प्रकार भाषा संबंधी त्रुटियों की पहचान करते हैं और उचित भाषा-प्रयोग का पथ-प्रशस्त करते हैं, साहित्य के क्षेत्र में आलोचक की भूमिका लगभग वैसी ही होती है। नामवर जी का विचार है कि हर लेखक की प्रतिभा एक निश्चित परिस्थिति और परंपरा की उपज होती है। वह परिस्थिति के बाधक तत्वों को समाप्त कर साधक तत्वों का विनियोग करता है और अपने व्यक्तित्व के माध्यम से समाज को साहित्य का रूप देता है। साहित्य महज अनुकृति नहीं, वह रचनात्मक कृति है। प्रतिभाशाली

---

29. दस्तावेज अंक 52 जुलाई-सितम्बर 1991, पृ.27
30. डॉ. नामवर सिंह : कविता के नये प्रतिमान (भूमिका)

रचनाकार जब श्रेष्ठ साहित्य रचता है तो उसमें वास्तविकता की रचना शक्ति जितनी अधिक होती है अनुकृति उतनी ही कम। आलोचक के लिये ऐसी रचनाओं के सामाजिक यथार्थ का विश्लेषण करना बहुत कठिन कार्य है।

छायावादी काव्यधारा आलोचकों के लिये चुनौती सिद्ध हुई थी। उस पर तरह तरह के आक्षेप लगाये गये। राष्ट्रीय जागरण का सीधा संदेश न देने तथा राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि समस्याओं की सीधी अभिव्यक्ति के अभाव के कारण उसपर पलायनवाद का आरोप लगाया गया। नामवर जी इसे आलोचकीय क्षमता की कमजोरी मानते हैं। वे लिखते हैं- "जहाँ सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति भाव सत्ता के जितने गहरे स्तर पर होती है, जैसा कि श्रेष्ठ साहित्य में सदैव होता है, आलोचक का कार्य कठिन हो जाता है। जो आलोचक यह कठिन कार्य करने में अलसाता है अथवा जिसमें विश्लेषण की इतनी क्षमता नहीं होती या जो अपने दृष्टिकोण विशेष के कारण साहित्य में तात्कालिक घटनाओं का अनुवाद ढूँढता फिरता है, वह छायावाद के बारे में प्राय: शिकायत करता रहता है कि वह समकालीन सत्य से दूर रहा अथवा युग-धर्म की उपेक्षा कर गया या वह तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलन से उदासीन रहा।"[31]

नामवर जी सर्वाधिक महत्व रचनाकार को देते हैं। उनका विचार है कि इतिहास निर्माण का कार्य रचनाकार ही करता है। कोई नई रचना पूर्ववर्ती रचनाओं के मूल्य निर्णय में भी अपनी सार्थक भूमिका निभाती है और वह अपनी परवर्ती रचनाओं से भी प्रभावित होती है। नामवर जी पूछते हैं- "इससे कौन इंकार कर सकता है कि मानस ने वाल्मीकि रामायण को और कामायनी ने मानस को पाठकों के लिये बदल दिया।"[32]

---

31. डॉ. नामवर सिंह : छायावाद, पृ.72
32 डॉ. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ.43

नामवर जी की आलोचना को स्थूल अर्थ में कृति-केन्द्रित आलोचना नहीं कहा जा सकता। उनकी दृष्टि के केन्द्र में रचना की मूल संवेदना है, जो व्यापक अर्थ में रचनाकार के समय-समाज की संवेदना है। इसी का सुपरिणाम है कि उनकी आलोचना सुगठित एवं संगतिपूर्ण है। उनका आलोचना कर्म रचना को 'खंड' के रूप में नहीं वरन् 'समग्र' के रूप में देखने का आग्रही है। उन्होंने इस समग्र की रक्षा एकांगिता, सरलीकरण और हठाग्रह से बचकर किया है।

आलोचना और सिद्धान्त- नामवर जी मार्क्सवादी आलोचक हैं। अपने आलोचना-कर्म के दौरान वे कहीं भी सिद्धान्तों की दुहाई नहीं देते। रचना के विश्लेषण से असंबद्ध होकर वे उनका उल्लेख भी नहीं करते। यही कारण है कि उनकी रचनाओं की रोचकता कायम रहती है। वे कहते हैं- "मैं सिद्धान्तों को एकदम खारिज नहीं कर रहा हूँ, लेकिन सामान्य सिद्धान्त निरूपण करते हुये किसी कृति के मूल्यांकन में प्रवृत्त होना अवांछनीय मानता हूँ। जो रचना पर आरोपित हो, उस सामान्य सिद्धन्त का मैं विरोध करता हूँ। ऐसे आलोचनात्मक लेखों में जहाँ समान्य सिद्धान्त कथन की बहुतायत होती है, उनमें आपको प्राय: मौलिकता का भी अभाव मिलेगा।"[33]

नामवर जी ने सदैव साहित्य के लिये बने बनाये प्रतिमानों का विरोध किया है। वे लुकाच के समान व्यावहारिक आलोचना के माध्यम से ही मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के निर्माण की दिशा में प्रवृत्त हैं। 'कविता के नए प्रतिमान' में भी उन्होंने प्रतिमान निर्माण के सामने प्रश्न चिह्न लगाया है। उनका विचार है कि प्रतिमानों को सूत्रबद्ध करने से

---

33. सं. समीक्षा ठाकुर : कहना न होगा, पृ.63

रूढियाँ बनती हैं जो अनुपयोगी ही नहीं, घातक होती हैं। उन्होंने आलोचनात्मक कृति को कुछ सूत्रों में रिड्यूस करने का स्पष्ट विरोध किया है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुये उन्होंने कहा है- "कविता के एक पाठक के नाते आलोचक निश्चय ही मूल्यांकन करता है किंतु वह कहीं बाहर से मानदण्ड लाकर कृति पर न तो लागू करता है और न उसे इस तरह मापता ही है। किसी कृति के काव्यानुभव को वह यथा संभव अधिक से अधिक आयत्त करने का प्रयत्न करता है, निश्चय ही आयत्तीकरण की इस प्रक्रिया में मूल्यांकन भी अन्तर्निहित होता है। किंतु अंतिम मूल्य निर्णय करते समय वह आलोच्य कृति को किसी सैद्धान्तिक प्रणाली के अंतर्गत स्थित नहीं करता, बल्कि अन्य सजातीय कृतियों के बीच उसका स्थान निश्चित करता है। अब कोई चाहे तो मूल्यांकन की इस प्रक्रिया में से अपनी सुविधा के लिए मूल्यों की प्रणाली को खोज कर सूत्रबद्ध कर सकता है, किंतु यह आलोचना -कर्म का अनिवार्य अंग नहीं है, बल्कि गौण पक्ष है। इसलिए किसी आलोचक से स्पष्ट प्रतिमान की माँग वही करते हैं जो आलोचना की प्रक्रिया से या तो सर्वथा अनभिज्ञ हैं या उससे बचना चाहते हैं।"[34]

स्पष्ट है कि नामवर जी की मूल आस्था साहित्य में है। मार्क्सवाद उनका बुनियादी दृष्टिकोण है किंतु मूल्यांकन का आधार कोई निश्चित सैद्धांतिक प्रणाली नहीं है। यही कारण है कि उत्कृष्ट रचनाओं की आलोचना के दौरान वे मार्क्सवाद की सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं।

आलोचना की स्वायत्तता- 'पूर्वग्रह' पत्रिका ने साहित्य के क्षेत्र में आलोचना की स्वायत्तता का नारा बुलंद किया था। अशोक वाजपेयी के बहाने नामवर जी तथाकथित स्वायत्ततावादी धारा के छद्म को उजागर करते हुये उसपर जमकर प्रहार करते हैं।

---

34. सं. समीक्षा ठाकुर : कहना न होगा, पृ.58

साहित्य को विचारधारा से मुक्त कर उसकी स्वायत्तता की माँग करने वालों के विषय में नामवर जी लिखते हैं- "जो आलोचना को विचारधारा का उपनिवेश कहने की जुर्रत करता है वह अपनी भाषा सीधे एक राजनीतिक विचारधारा से उधार लेता है। और उस भाषा के साथ ही स्वयं भी विचारधारा का उपनिवेश बन जाता है। फिर कैसे यकीन हो कि ऐसे लोग आलोचना को स्वायत्त बनायेंगे।"[35] अक्सर राजनीतिक सिद्धान्तों, धार्मिक मंत्रों और दर्शनों को ही लोग विचारधारा मानते हैं किंतु नामवर जी का स्पष्ट मत है कि विचारधारा इन सबसे अधिक प्रछन्न है। वह संस्कार की तरह समूचे अस्तित्व का अभिन्न अंग बन जाती है। उसके पाश से मुक्त कर आलोचना को स्वायत्त बनाने का विचार उनके अनुसार बालिश है। इस प्रसंग में उन्होंने पूर्वग्रह के बहुघोषित 'बहुलता' अथवा 'प्लुरलिज्म' को अस्वीकृत किया है। आलोचना की स्वायत्तता की माँग आलोचना की दुनिया में अराजकता को बढावा देगा। अत: नामवर जी कहते हैं कि स्वायत्तता के षड्यंत्रकारी मौन को भंग करना आलोचना का स्वधर्म है।

आलोचना की संस्कृति- साहित्य की आलोचना में संस्कृतिवाद एक नवीन बहस का मुद्दा है। 'आलोचना की संस्कृति और संस्कृति की आलोचना' नामक लेख में नामवर जी इस सांस्कृतिवाद के कुप्रभावों को उजागर करते हैं। उनका मानना है कि सौंदर्यशास्त्र ने संस्कृति को सीमित और संकुचित बना दिया जिससे वह व्यापक जनसमुदाय से कटकर एक छोटे से परजीवी वर्ग की भोग्या बन गई। सही अर्थों में संस्कृति एक विचारधारा बन गई जिसके लिए अलग वाद बना गया- संस्कृतिवाद। संस्कृतिवादियों ने साहित्यिक आलोचना का भी सौंदर्यीकरण किया है। इससे रूपवाद और कलावाद को ही प्रोत्साहन मिलता है। संस्कृतिवाद के संबंध में नामवर जी लिखते हैं- "संस्कृति

---

35. नामवर सिंह : वाद विवाद संवाद, पृ.37

एक ऐसी विचारधारा है जो जीवन की सारी समस्याओं को समेट कर संस्कृति की समस्या बना देती है क्योंकि उसके अनुसार जीवन की तमाम समस्यायें सिर्फ संस्कृति की समस्यायें हैं। किंतु संस्कृतिवाद की समस्या यहीं नहीं रुकती। इसके बाद वह संस्कृति की अवधारणा को संकुचित करती है। इस विचारधारा में अमूर्तन की विशेष भूमिका होती है। संस्कृति एक जीते जागते क्रिया व्यापार की जगह कुछ अमूर्त मूल्यों की तालिका बनकर रह जाती है, देश काल से परे कुछ ऐसी विशेषतायें जो सार्वभौम और शाश्वत है।"[36] साहित्य अपने सृजन तथा अधिग्रहण, दोनों में एक सामाजिक क्रिया है। आलोचना के सामाजिक आधार को हटाकर संस्कृतिवादियों ने उसे शुद्ध रचनात्मक आलोचना का खिताब दिया है। इस संस्कृतिवाद के विरोध का आह्वान करते हुये भी नामवर जी आलोचकों को आगाह करते हैं कि संस्कृति के अमूर्तन का विरोध तो किया जाना चाहिये किंतु उसकी सापेक्ष स्वायत्तता को नकारना गलत है।

आलोचना और सौंदर्यशास्त्र- सौंदर्य के लिये विशेष शास्त्र के उद्भव पर प्रकाश डालते हुये नामवर जी लिखते हैं- "कवितायें पहले भी लिखी जाती थी, नाटक भी खेले जाते थे और चित्र भी बनाये जाते थे। सबके कुछ न कुछ प्रयोजन थे। लोग इन्हें पढते भी थे और देखते भी। तरह तरह से। लेकिन एक समय ऐसा आया कि विविध प्रकार की इन सभी क्रियाओं को एक ही रहस्यमय शक्ति के अंदर अंतर्भुक्त करके उसे 'सौंदर्य' और कला का नाम दे दिया गया और फिर उसका एक शास्त्र भी तैयार हो गया जो 'सौंदर्यशास्त्र' कहलाया।"[37] सौंदर्यशास्त्र, मार्क्स द्वारा विवेचित 'जर्मन विचार

---

36. नामवर सिंह : वाद विवाद संवाद, पृ.47
37. नामवर सिंह : वाद विवाद संवाद, पृ.73

प्रणाली' का अंग है। मार्क्सवाद की विकासशील अवस्था को देखते हुये उसमें शास्त्र निर्माण का प्रयास नामवर जी को घातक लगता है। मार्क्सवाद का जन्म आलोचनात्मक दर्शन के रूप में हुआ है जिसकी प्रकृति खंडन-मंडन की है। सोवियत संघ में 'समाजवादी यथार्थवाद' के शास्त्र निर्माण तथा जार्ज लूकाच के 'सौंदर्यशास्त्र' नामक विशाल ग्रंथ की असफलताओं का उदाहरण देकर नामवर जी ने स्पष्ट किया है कि शास्त्रबद्ध होते ही क्रांतिकारी अवधारणाएँ जड सूत्रवाद में बदल जाती हैं।

सौंदर्यशास्त्र के संपर्क में आने से साहित्यिक आलोचना का भी 'सौंदर्यीकरण' हुआ है। फलस्वरूप यह विचारधारा सामने आयी है कि कलाकृति की रचना जीवन के जिस व्यावहारिक अनुभव से जुडी हो और रचनाकार ने जिन भौतिक कठिनाइयों से जूझते हुये कलाकृति का निर्माण किया हो, उससे पाठक या आलोचक को असंबद्ध होना चाहिए। कलात्मक आनंद की प्राप्ति में विषम व्यावहारिक परिस्थितियों को बाधक माना गया है। उक्त विचारधारा से नामवर जी को मतभेद है। वे मानते है कि श्रेष्ठ कलाकृतियाँ देशकाल का अतिक्रमण करने के बावजूद असंदिग्ध रूप से सामाजिक हैं, अत: सामाजिक विश्लेषण द्वारा ही उसका ठीक ठीक महत्व आँका जा सकता है। वे लिखते हैं- "सौंदर्यशास्त्र ने आलोचना से उसका यह समाज छीन लिया, समाज का आधार हटा दिया। निराधार आलोचना अपनी आलोचनात्मक क्षमता खो बैठी। आलोचना नितांत 'रचनात्मक' हो गई। शुद्ध रचनात्मक आलोचना। रचना के अनुकरण पर एक दूसरी रचना। स्वधर्म छोड उसने परधर्म स्वीकार कर लिया।"[38] यह सौंदर्यशास्त्र कुप्रभाव नहीं वरन् कलावाद का है। नामवर जी के

---

38. नामवर सिंह : वाद विवाद संवाद, पृ.46

शब्दों में- "सच तो यह है कि साहित्य के लिए न तो कलाओं का संपर्क हानिकर है, न सौंदर्यशास्त्र का। हानिकर है कलावाद की कला और कलावाद का सौंदर्यशास्त्र; और इस सौंदर्यशास्त्र पर कलावाद की छाप इतनी गहरी है कि वह सौंदर्यशास्त्र की अधिकांश अवधारणओं तक में घर किए बैठी है- यहाँ तक कि सौंदर्यशास्त्र की समूची भाषा कलावादी अभिरूचि से ओतप्रोत है।"[39]

स्पष्ट है कि नामवर जी ने आलोचना के सभी पक्षों पर गंभीरता से विचार किया है। आलोचना के क्षेत्र में उभरी विविध हानिकारक प्रवृत्तियों का उन्होंने खुल कर विरोध किया है।

नामवर सिंह की वक्तृता शैली

नामवर जी ने अपने लेखन के समान ही अपने भाषणों के कारण भी सदैव चर्चित रहे हैं। गहन अध्ययन, इतिहास दृष्टि तथा संदर्भ के स्पष्ट बोध के साथ जब वे बोलते है तो श्रोताओं को सम्मोहित करते हैं। वे अत्यंत सुपठित आलोचक हैं। उन्होंने देशी तथा विदेशी साहित्य का गहन अध्ययन किया है। अधीत सामग्री को वे अपनी सोच में इस प्रकार ढालते हैं कि वह किताबी ज्ञान की तरह अमौलिक नहीं लगती। इस शोधिका को भी नामवर जी के दो व्याख्यान सुनने का अवसर प्राप्त हुआ है। उनमें कोच्चिन विश्वविद्यालय में आयोजित 'हजारीप्रसाद द्विवेदी व्याख्यानमाला' के अन्तर्गत किया भाषण उल्लेखनीय है। उन्होंने द्विवेदी जी को उद्धृत करते हुए कहा- 'दस किताब पढकर पंडित तो सभी हो जाते हैं, मनुष्य होना मुश्किल है। मुझे मनुष्य की तलाश है।' नामवर जी का व्यख्यान मनुष्येतिहास के विभिन्न अध्यायों से गुजरती हुई

---

39. नामवर सिंह : वाद विवाद संवाद, पृ.45

एक सांस्कृतिक यात्रा प्रतीत हुई। कालडी के संस्कृत विश्वविद्यालय में उन्होंने 'आर्ट ऑफ लेक्चर सीरीज' के अंतर्गत 'पुनर्जागरण की दूसरी परंपरा' विषय पर जो व्याख्यान प्रस्तुत किया उसे भी सुनने का सुअवसर शोधार्थी को प्राप्त हुआ था।

नामवर जी के वक्तव्यों में स्पष्टता और सादगी ही चमत्कारी तत्व हैं जो श्रोता को मंत्रमुग्ध करके दुर्गम विषयों को भी आत्मसात करने योग्य बनाते हैं। श्री. मुहम्मद कमाल इस चमत्कार के प्रभाव को इस प्रकार विश्लेषित करते हैं- "किसी राष्ट्रीय गोष्ठी और परिसंवाद में नामवर जी की उपस्थिति भोजन में नमक की तरह होती है। उनके बिना भी गोष्ठियाँ हो जाया करती हैं पर वे केवल विचारणीय होती हैं आस्वाद्य नहीं। उनके द्वारा उठाये गये विवादों में भी रस होता है जिसका उपभोग उनके विरोधी भी करते हैं। उनके वक्तव्य में ऐसा जादू होता हैं कि तत्काल मौन रह जाना पडता हैं। यह मौन विचार शून्य होने की स्थिति नहीं, आश्वस्ति का बोध है, जो चीजों को उनके सही परिप्रेक्ष्य में स्पष्टता के साथ रखने से उत्पन्न होता हैं।"[40]

हिन्दी में विजयदेवनारायण साही और श्रीकांत वर्मा के नामों का वाक्कला की दृष्टि से नामवर जी के साथ उल्लेख किया जाता है। उनके व्याख्यानों को लिपिबद्ध करके प्रकाशित किया गया है। इनमें एक सफल निबंध की ताजगी और वैचारिक दक्षता पाई गई है। 'वाद-विवाद संवाद' के बाद नामवर जी ने कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं की है यद्यपि वे साक्षात्कारों में 'साहित्य का इतिहास' लिखने, 'आलोचना की प्रस्थान-त्रयी' पर लिखने की बातें करते हैं। अनेक आलोचकों ने उनपर लेखन के बजाय भाषण को महत्व देने के कारण 'अवसरवादिता' का आरोप लगाया है।

---

40. सं. कमला प्रसाद : आलोचना की दूसरी परम्परा, पृ.359

अशोक वाजपेयी कहते हैं- "नामवर जी में एक अचूक अवसरवादिता है। इस अर्थ में अवसरवादिता है कि उनकी वाचिक परंपरा है। जैसी मंडली हो, वैसी सेटिंग कर देते हैं।"[41] यही असंतोष राजेन्द्र यादव के शब्दों में भी देखा जा सकता है- "लेखक नामवर और वक्ता नामवर ये दो बिल्कुल अलग चीजें हैं। उन्होंने जो लिखना छोड़ा है वह इसलिए कि इस सुविधा से उन्हें तत्काल लाभ होता है, तत्काल सत्ता मिलती है, तत्काल तालियाँ मिलती हैं और जिस धरातल पर!"[42] उपर्युक्त आरोप का सविस्तार तर्कसंगत खंडन करते हुए नामवर जी कहते हैं- "मेरे खिलाफ इस पर आरोप लगाए जा सकते हैं लेकिन मैं अप्रासंगिक कभी नहीं बोलता और न लिखता हूँ। बहुत से लोग हैं कि प्रसंग कोई भी हो लेकिन अपने दिल की भड़ास निकालने के लिए, जो उनको कहना है, वही कहेंगे। एक ही पाठ उन्होंने पढ़ा होता है और वो कोई भी हो, कोई गोष्ठी हो, कोई अवसर हो, उस अवसर पर वही कहेंगे। एक ही बात। हर अवसर पर वही कहेंगे। कम से कम इस दोष से मैं अपने को बहुत दूर तक मुक्त समझता हूँ। अब रहा ये कि जो कांसिस्टैंसी का निर्वाह करने के लिये कोई आदमी एक ही बात हर जगह कहता जाए तो वह जपा करते राम-राम। ये मैं नहीं करता। अब रहा ये कि उस संदर्भ में जो किसी चीज की दृष्टि होती है, उसमें आप यह भी देख सकते हैं। ऐसा कभी नहीं हुआ। शायद ही हुआ हो कि मन से किसी आदमी को मैं पसंद नहीं करता, आदमी माने उसकी रचना को और वह वहाँ बैठा हो तो उसकी उपस्थिति मात्र से मैं, चाहे उसका जन्मदिन मनाया जा रहा हो, उसके ग्रंथ का लोकार्पण हो रहा हो, मैं न चाहते हुए भी उसको प्रसन्न करने के लिये प्रशंसा कर दूँ, आज तक कभी मैंने यह

---

41. सं. सुधीश पचौरी : नामवर के विमर्श, पृ.447
42. वही, पृ.465

नहीं किया।"[43] इसके साथ ही वे 'अवसरवादिता' और 'अवसर के अनुकूल बोलने' में भेद स्पष्ट करते हुए अपने ऊपर लगाये गये आरोपों का खण्डन करते हैं।

नामवर जी के भाषणों की महत्वपूर्ण विशेषता अपने विचारों को स्पष्ट, दो टूक शब्दों में अभिव्यक्त करने की क्षमता है। उनकी भाषा तथ्यपरक और सुबोध होती है। वे विषय की पूरी तैयारी के साथ पर्याप्त और समीचीन उद्धरणों के साथ अपनी बात कहते हैं। वस्तुत: यही शैली उनके भाषण और लेखन को प्रभावशाली बनाती है। दूरदर्शन से प्रसारित 'सुबह-सवेरे' कार्यक्रम की साहित्य चर्चायें इसका उदाहरण हैं।

नामवर जी की वक्तृता निस्संदेह एक वरदान है जो साहित्य जगत में निरंतर संवाद का माहौल बनाती है किंतु आपत्ति तब होती है जब यह वाचिकता उनके लेखन में बाधक सिद्ध होती है और फलस्वरूप हिन्दी साहित्य कालजयी कृतियों से वंचित रह जाता है।

डॉ. नामवर सिंह की भाषा

'आलोचना की भाषा' नामक विचारोत्तेजक लेख में नामवर जी ने आलोचना की भाषा के संकट को एक सांस्कृतिक संकट के रूप में व्याख्यायित किया है जिसमें आज की पत्रकारिता की भाषा का विकृत रूप सबसे ज्यादा उत्तरदायी है। उनकी टिप्पणी है, "आज हमारी हालत उस आदमी के समान है जो एक अरसे से काँच की खिडकी से बाहर देखता आ रहा है कि सहसा दृष्टि उस काँच से जा टकरायी या कि काँच पर अड गयी, इस टकराहट से पूरी दृष्टि बदल गयी।"[44]

---

43. सं. सुधीश पचौरी : नामवर के विमर्श, पृ.491
44. नामवर सिंह : वाद विवाद संवाद, पृ.23

डॉ. नामवर सिंह की आलोचना की भाषा अत्यधिक जीवन्त और प्रभावशाली है। उनके आलोचना सिद्धांत मार्क्सवादी विचारधारा के भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य काव्य शास्त्र से विवेकयुक्त सम्मिलन के परिणाम हैं। उनकी भाषा में पांडित्य का बोझ लेशमात्र भी नहीं हैं। 'चीजों को उसके सही नाम से पुकारने' की जो प्रेरणा उन्होंने पिमित्रोव से ग्रहण की, उसे वे पूरी ईमानदारी से निभाते आ रहे हैं। आलोचना की भाषा पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा है, "अगर रचना में शिल्प और अनुभव के स्तर पर इतनी क्रांतिकारी तब्दीलियाँ आ गई है, तो आलोचना वही बाबा आदम के जमाने की भाषा में कैसे लिखी जा सकती है? . . . . इस मामले में शास्त्र का अनुचर हो जाने को भी मैं कोई अच्छी चीज नहीं मानता। शास्त्र के लिये मन में सम्मान हो सकता है, लेकिन शास्त्र क्या सिर पर ढोने की चीज है? मेरे गुरु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मुझे यह दोहरी दृष्टि दी शास्त्र के प्रति . . . . यानी दर्शन की परंपरा का आप सम्मान भी कर रहे हैं, लेकिन उससे आक्रांत भी नहीं है। उसका उपयोग करो और काम हो गया तो उसे पानी में फेंक दीजिये। ढोने से कोई फायदा नहीं उल्टे डूबने का खतरा है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का सारा लेखन इस बात का गवाह है। उनसे ज्यादा शास्त्रों का ज्ञाता कौन था और उनसे ज्यादा सहज और रसात्मक वाक्य किसने लिखे? किसी बात को भीतर पचाकर कोई आसान बात कहना ज्यादा मुश्किल है . . . . असली पाण्डित्य तो यह है! . . . . तो मेरा तो सूत्र वाक्य यह है कि शास्त्र को अपने ऊपर सवारी मत करने दो, शास्त्र पर सवारी करो- फिर चाहे वह भारतीय काव्यशास्त्र हो या पश्चिमी काव्यशास्त्र।"[45]

---

45. सं. भरत यायावर : नामवर सिंह- आलोचना के रचना पुरुष, पृ.263

नामवर जी की भाषा ने लोक जीवन से, अपनी समृद्ध परंपरा से तथा मार्क्सवादी विचारधारा से शक्ति आर्जित की है। लोकानुभव की भाषा का उत्तम निदर्शन 'दूसरी परंपरा की खोज' में देखा जा सकता है। अन्य कृतियों में भी वे शास्त्रीय बोझिल भाषा से परहेज करते हैं। परंपरा प्राप्त शब्दों के दुरुपयोग के प्रति वे अत्यंत सजग हैं। वे मानते हैं कि सच्चे रचनाकार की तरह कृती आलोचक की भाषा भी व्यक्ति विशिष्ट होती है और यह विशिष्टता केवल शब्दावली में ही नहीं, बल्कि उसके 'स्वर' में भी होती है। अंलकरण आलोचक के लिए विवशता होनी चाहिए, शौक नहीं। भाषा की कृत्रिमता कविता की अपेक्षा गद्य में अधिक प्रतिकूल प्रभाव डालती है।

वाद विवाद के प्रसंगों में नामवर जी प्राय: विरोधियों के कथनों में से ही शब्द चुनकर उनपर वार करते हैं। सीधे सीधे सरल से लगनेवाले उनके वाक्यों में व्यंग्य की तेज धार को अनुभव किया जा सकता है। वे संस्कृत, उर्दू, फारसी और अंग्रेजी शब्दों का इस्तेमाल भी करते हैं। मुहावरों और लोकोक्तियों का वे खुल कर प्रयोग करते हैं। नामवर जी की भाषा की विशेषता भगवान सिंह जी ने निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट है- "छोटे-छोटे वाक्य। अल्पतम आयास से पूरे अर्थ को वहन करने वाले। चीर-फाड पर आ जाये तो सर्जन के छुरे की तरह पैने और सुथरे। व्यंग्य और चुटकी तक का यथासाध्य कम प्रयोग। इस बात का एक सूक्ष्म बोध कि विचारणीय विषय पर अपने ज्ञान का कितना कुछ निर्ममता से छाँटकर अलग कर देना है जिससे लेख या वक्तव्य मार्मिक होने के बावजूद कम से कम बोझिल, बहुजन ग्राह्य और अधिक से अधिक उत्फुल्लकारी बना रहे।"[46]

---

46. सं. कमला प्रसाद : नामवर सिंह- आलोचना की दूसरी परंपरा, पृ.182

नामवर जी ने मार्क्सवादी तथा आधुनिकतावादी दोंनों ही कोटी के पश्चिमी आलोचकों का गहन अध्ययन किया है। 'कविता के नये प्रतिमान' में काव्य भाषा और सृजनशीलता, काव्य बिम्ब और सपाटबयानी, विसंगति और विडम्बना, अनुभूति की जटिलता जैसी शब्दावली का प्रयोग करते हुए उन्होंने 'नयी आलोचना' के शब्दों का सार्थक इस्तेमाल किया है।

नामवर जी ने अपने लेखन के माध्यम से आलोचना केलिए स्पष्ट, पारदर्शी और विचारोत्तेजक भाषा का आदर्श प्रस्तुत किया है। कवि बनने के इच्छुक नामवर जी को हिन्दी के सब से मूल्यवान और यशस्वी आलोचक का स्थान दिलाने में उनकी भाषा ने सार्थक भूमिका निभायी है। श्री. अरविन्द त्रिपाठी नामवर जी की भाषा को उनकी आलोचना शक्ति का बीज-तत्व मानते हैं। उनके शब्दों में- "उन की भाषा को पढते हुए कभी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की स्पष्टवादिता, तत्वचिन्तन और हाजिर जवाबी झलकती है तो कभी महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसा शब्दानुशासन, तो कभी कभी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसा मस्तमौला- फक्कडपन और कबीर जैसी बेहिसाब ठाठफकीरी झलकती है। महाकवि निराला ने गद्य की भाषा को जीवन संग्राम की भाषा जिन अर्थों में कहा था वह नामवर सिंह की आलोचनात्मक भाषा में देखा जा सकता है। लडाई के मोर्चे पर लडते हुए सैनिकों का तुमुल-उद्घोष, हाहाकार की ध्वनियाँ सुनानी पडती है। नामवर सिंह की आलोचना की भाषा के तरकश में ऐसे असंख्य तीर भरे पडे हैं।"[47]

47. अरविन्द त्रिपाठी : आलोचना की साखी, पृ.43

अध्याय - तीन

काव्यालोचना की नयी सरणियों की खोज और स्थापना

काव्यालोचना की नयी सरणियों की खोज और स्थापना

- वैचारिक तेजस्विता की प्रथम रश्मि - 'छायावाद'
- हिन्दी के इतिहास सम्मत वादों का विश्लेषण - 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ'
- वैचारिक संघर्ष का दस्तावेज - 'इतिहास और आलोचना'
- कालजयी काव्यालोचना - 'कविता के नये प्रतिमान'
- लोकोन्मुखी प्रगतिशील परंपरा की पहचान - 'दूसरी परंपरा की खोज'
- समकालीन साहित्यिक और सांस्कृतिक परिदृश्य की पडताल - 'वाद-विवाद-संवाद'
- निष्कर्ष

काव्यालोचना की नई सरणियों की खोज और स्थापना

डॉ. नामवर सिंह के आलोचना ग्रंथों में अधिकांश, कविता पर केन्द्रित हैं। 'पुनीत' उपनाम के साथ कवि के रूप में साहित्यिक जीवन की शुरुवात करनेवाले नामवर जी जब आलोचक बने तो स्वाभाविक ही है कि कविता उनके आलोचना कर्म की प्रकृत भूमि बनी। वे उस श्रेणी के आलोचक हैं जिन्होंने अपना शोध कार्य प्राचीन साहित्य पर करने के बावजूद समकालीन साहित्य के प्रति अपनी गहरी आत्मीय संलग्नता प्रदर्शित की। नामवर जी का समस्त लेखन एक निश्चित ऐतिहासिक आवश्यकता की उपज है। उनकी प्रत्येक कृति का एक निश्चित ऐतिहासिक संदर्भ है। नामवर जी अपनी आलोचनात्मक कृतियों के परिप्रेक्ष्य को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं, "छायावादी कविता पर लिखना मैं ने इसलिए जरूरी समझा कि हिन्दी के रोमांटिक कविता को आम तौर से उस समय के स्वाधीनता आंदोलन से अलग समझा जाता था। लोगों का ख्याल यह था कि यह कविता तो क्षितिज के पार देखनेवाली है। मेरी कोशिश यह थी कि यह कविता जिसका सीधा संबन्ध समाज और जीवन से दिखाई नहीं पडता, कहीं ज्यादा गहराई से उस युग के मनुष्य की चिंताओं को और युग चेतना को व्यक्त करती है और यदि छायावादी कविता के द्वारा यह चीज दिखाई जा सके तो प्रकारान्तर से कहीं न कहीं उस मानयता को पुष्ट करेंगी जहाँ साहित्य को साहित्य की तरह देखते हुए हम उसमें निहित सामाजिक छवियों और छायाओं को व्यक्त कर सकेंगे। .... उस दौर में इसकी ज्यादा जरूरत थी लेकिन, आप जानते हैं आलोचना में क्रिया-प्रतिक्रियाओं का एक झूला या हिंडोला जैसा हुआ करता है, पैंडुलम जैसी स्थिति होती है। हम अकसर एक अस्वस्थ प्रवृत्ति का विरोध करते हुए आम तौर से संतुलन स्थापित नहीं करते बल्कि दूसरे छोर पर चले जाते हैं। उस दौर में जल्दी ही नई

कविता का बोलबाला हुआ । उसके कारण एक नया सौंदर्यशास्त्र बना जिसमें अपेक्षाकृत 'शुद्ध कविता' के मूल्यों की स्थापना का प्रयत्न, नयी कविता के कुछ लोगों ने करने की कोशिश की और आलोचना ने आमतौर से उन सामाजिक सारोकारों को या तो प्रगतिवादियों के हवाले कर दिया या उसका निषेध किया । इसलिए लगभग सत्तावन-उनसठ के आस पास आप देखेंगे कि आलोचना में 'कलावादी' या 'रूपवादी' रुझान अंशत: प्रकट हुआ जिसकी अभिव्यक्ति आप को अज्ञेय की 'तीसरा सप्तक' की भूमिका में मिलेगी । तो दूसरे छोर पर हम पहुँचे उसके बाद वाले दशक में । यह अतिप्रगतिवादियों का दशक था, गर्जन-तर्जन वाला, जिसमें तब देश में चल रहे अतिवादी वामपंथी आंदोलन की छाया थी । आप देखेंगे कि नयी कविता की प्रतिक्रिया में अतिशय सामाजिकता और सतही सामाजिकता पर ज्यादा बल दिया गया है। वह दूसरा छोर था जिसका मुझको प्रतिकार करना पडा। लोग समझते हैं कि मैं ने कलावाद का ज्यादा विरोध किया है, सचाई यह है कि मैं ने सतही सामाजिकता का उतना ही विरोध किया है ।"[1] नामवर जी के उपर्युक्त वक्तव्य से 'छायावाद', 'इतिहास और आलोचना' तथा 'कविता के नये प्रतिमान' के रचना संदर्भ का स्पष्टीकरण हो जाता है। मौलिक दृष्टिकोण, वैचारिक संघर्ष, सर्जनात्मक भाषा और सुस्पष्ट विवेचन से धनी उनकी आलोचना ने समकालीन लेखन का दिशा-निर्देश किया।

वैचारिक तेजस्विता की प्रथम रश्मि- 'छायावाद'

नामवर जी की वैचारिक तेजस्विता 'छायावाद' और 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' रचनाओं में स्पष्टत: देखी जा सकती हैं। इन रचनाओं के अपने विवेचन से आलोचक के रूप में उन्हें प्रतिष्ठा मिली । 'छायावाद' में अध्यायों के शीर्षक से ही

---

1. सं. समीक्षा ठाकुर : कहना न होगा, पृ.68

छायावाद की विशिष्टताओं की ओर वे संकेत करते चलते हैं। 'प्रथम रश्मि' शीर्षक अध्याय में वे एक कव्यप्रकृति के रूप में 'छायावाद' शब्द के पहली बार उल्लेख की पृष्ठभूमि में उसके इतिहास के साथ ही उसे परिभाषित करने का प्रयास करते हैं। 'केवल मैं, केवल मैं' में छायावादी साहित्य में कवि व्यक्तित्व की मुख्य उपस्थिति, व्यक्ति की सामाजिक स्वाधीनता, साहित्य में स्वानुभूति की अभिव्यक्ति आदि मुद्दों की विस्तृत चर्चा की गई है। छायावादी कवियों के प्रकृति चित्रण के वैशिष्ट्य का उद्घाटन करते हुये पाठ का शीर्षक है 'पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश'। दूसरी ओर 'देवि, माँ, सहचरि प्राण' में नारी के विविध रूपों का विवेचन मिलता है। 'कल्पना के कानन की रानी' में छायावादी कवियों की विराट कल्पना शक्ति का विवेचन है तो 'खुल गये छंद के बंध' में छायावादी काव्य के छंद विन्यास और मुक्त छंद के उदय की चर्चा मिलती है। स्पष्ट है कि 'छायावाद' पुस्तक के बारह अध्यायों के शीर्षक उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों को अभिव्यक्त करते हैं।

सामाजिक सत्य का उद्घाटन - डॉ. नामवर सिंह के पूर्ववर्ती आलोचकों ने छायावादी काव्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों एवं नवीन अभिव्यंजना शैली के कारण उसे यथार्थ विरोधी और समाज विमुख घोषित किया था। इसी चिन्तन क्रम के अंतर्गत मुकुटधर पांडे की 'आध्यात्मिकता', आचार्य द्विवेदी का 'रहस्य', शुक्ल जी का 'आध्यात्मिक छायाभास', वाजपेयी जी का 'आध्यात्मिक छाया का भान', डॉ. नगेन्द्र का 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' आदि विचार आते हैं। नामवर जी ने छायावादी साहित्य का विश्लेषण किया और उसमें निहित 'सामाजिक सत्य का उद्घाटन' करते हुये स्थापित किया कि 'छायावाद हिन्दी साहित्य की परम्परा की एक महत्वपूर्ण कडी है। इसका

जन्म हमारे साहित्य की विशेष सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों में हुआ और फिर विशेष परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाने के कारण इनका पर्यवसान हो गया।"[2]

छायावाद के प्रमुख चारों कवियों का विश्लेषणत्मक अध्ययन करते हुये नामवर जी ने अनेक महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले। हिन्दी साहित्य में उसका ऐतिहासिक महत्व स्पष्ट करते हुए उसके स्थायी तत्वों को उन्होंने रेखांकित किया। वे लिखते हैं- "छायावाद का स्थायित्व उसके व्यक्तिवाद में नहीं, उसकी आत्मीयता में है; काल्पनिक उडान में नहीं, आत्म प्रसार में है; समाज भीरुता में नहीं, प्रकृति प्रेम में है; प्रकृति पलायन में नहीं, नैसर्गिक जीवन की आकांक्षा में हैं; आवेगपूर्ण भावोच्छ्वास में नहीं, संवेदनशीलता में है; सौंदर्य की कल्पना में नहीं, सौंदर्य की भावना में है; स्वप्न में नही, स्वप्न की वास्तविक आकांक्षा में है; अज्ञात की जिज्ञासा में नहीं, ज्ञान के प्रसार में है; आदर्श में नहीं, यथार्थ में है; कल्पना में नहीं, वास्तविकता में है; दृष्टिकोण में नहीं, दृष्टि में है; उक्ति वैचित्र्य में नहीं, अभिव्यंजना के प्रसार में है।

छायावादी कविता की आत्मीयता, प्रकृति प्रेम, सौंदर्य भावना, संवेदनशीलता, अथक जिज्ञासा, जीवन की लालसा, उच्चतर जीवन की आकांक्षा और इन सब के लिये संघर्ष करने की अनवरत प्रेरणा, छायावादी कविता का स्थायी संदेश हैं।"[3] नामवर जी के उक्त विश्लेषण से छायावाद के सामाजिक सत्य को समझने -समझाने में सहायता तो मिली ही, आलोचना कर्म की जटिलता भी स्पष्ट हो गई। साहित्य को समाज का अविकल अनुवाद समझनेवाला आलोचक छायावाद का सही मूल्यांकन नहीं कर

---

2. डॉ. नामवर सिंह : छायावाद, पृ.152
3. वही, पृ.154

सकता। रूढिमुक्त होकर ही उस साहित्य का सटीक मूल्यांकन किया जा सकता है जो हमारी अनुभूति को गहरा तथा भावों को परिष्कृत करता है।

काव्यगत वैशिष्ट्य की पहचान- नामवर जी ने छायावाद के मूल्यांकन द्वारा जिस काव्यदृष्टि का परिचय दिया है, वह व्यापक एवं लोकबद्ध होने के साथ ही कलात्मक और संश्लिष्ट भी है। वे कृति के ऊपरी सतह पर तैरनेवाले आलोचक नहीं है। उसकी गहराई में उतर कर उसके तल का स्पर्श करते हैं। इस आधार पर वे छायावाद के ऐतिहासिक महत्व को उजागर करते हैं। "व्यक्तित्व की स्वाधीनता, विराट कल्पना, प्रकृति-साहचर्य, मानव प्रेम, वैयक्तिक प्रणय, उच्च नैतिक आदर्श, देश भक्ति आदि के प्रसार द्वारा छायावाद ने हिंदी जाति के जीवन में ऐतिहासिक कार्य किया है। कविता के रूप विन्यास को पुरानी संकीर्ण रूढियों से मुक्त करके उसने नवीन अभिव्यंजना प्रणाली के लिये द्वार खोल दिया।"[4]

समालोचना का मान- छायावादी साहित्य की अनेक उपलब्धियों को नामवर जी ने रेखांकित किया है। इनमें कविता द्वारा समकालीन आलोचना का परिष्कार एक महत्वपूर्ण तथ्य है। स्तरीय साहित्य के मूल्यांकन हेतु अनायास ही आलोचना भी स्तरीय हो गई। पूर्ववर्ती इतिवृत्तात्मक साहित्य से भिन्न वैभवशाली छायावादी साहित्य ने आलोचना का मान ऊँचा उठा दिया। नामवर जी के शब्दों में- "परोक्ष रूप से छायावाद ने साहित्य के सामान्य पाठकों की रुचि इतनी परिष्कृत कर दी और काव्य संबंधी सूझ-बूझ इतनी गहरी कर दी कि आलोचना का सामान्य स्तर भी बहुत ऊपर उठ गया। युग प्रवर्तक आलोचक आलोचना के इसी सामान्य स्तर के अनुसार होते हैं।

---

4. डॉ. नामवर सिंह : छायावाद, पृ.152

जिस तरह पानी के स्तर के अनुसार ही कमल-नाल बढता चलता है, उसी तरह साहित्य के सामान्य स्तर के अनुसार ही कवि, लेखक और आलोचक बढते हैं। छायावाद ने यही सामान्य स्तर ऊपर उठा दिया।"[5]

हिन्दी के इतिहास-सम्मत साहित्यिक-वादों का विश्लेषण

'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ'

'रहस्यवाद' को प्राचीन परंपरा से जोडकर देखना नामवर जी को मंजूर नहीं है। वे छायावाद युगीन रहस्य भावापन्न काव्य प्रवृत्ति तक ही 'रहस्यवाद' को सीमित रखना समीचीन मानते हैं। उनका विचार है कि रहस्यवाद एक निजी विश्वास है जिसके अनुसार सत्योपलब्धि नितान्त निजी एवं वैयक्तिक वस्तु है और किसी सत्यकथन की सत्यता उस कथन से उत्पन्न होनेवाली अनुभूति की तीव्रता से ही माफी जा सकती है। वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता से प्रकृति के क्षेत्र में किये गये अन्वेषणों ने शिक्षित युवकों के मानसिक क्षितिज का विस्तार किया। मध्यकालीन अंधविश्वासों का स्थान जिज्ञासापूर्ण विवेक ने लिया। अज्ञात और असीम की अभिलाषा ज्ञात सीमाओं के असंतोष से ही उत्पन्न हुई। नामवर जी लिखते हैं- "यह असंतोष और महत्वाकांक्षा उस मध्यवर्गीय व्यक्ति की है जो मध्ययुगीन पारिवारिक और सामाजिक रूढियों को तोडकर उन्मुक्त वातावरण में साँस लेने के लिये आकुल हो रहा था। वह प्राचीन सीमाओं से तो परिचित था, लेकिन नवीन क्षितिज की कोई स्पष्ट रूपरेखा मन में न थी। वह इतना ही जानता था कि इस सीमा के परे जो कुछ है वह असीम है।"[6]

---

5. डॉ. नामवर सिंह : छायावाद, पृ.153
6. डॉ. नामवर सिंह : आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ.43

नामवर जी मानते हैं कि रहस्यवादी कवियों में 'अस्पष्टता' के प्रति मोह है और वे बराबर उसी मानसिक स्थिति का आह्वान करने लगे। इस मानसिक स्थिति केलिये वे तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों को जिम्मेदार मानते हैं। राजनीति में लक्ष्य की अस्पष्टता, अबौद्धिक जीवन दृष्टि एवं भावावेग की तीव्रता काव्य के रहस्यवाद से किसी भी मामले में कम नहीं है। तत्कालीन दु:खदायी कठोर सामाजिक वातावरण को भूलने के लिये भी कवि स्वप्न का आवाहन करते थे। रहस्यवाद के ऐतिहासिक वातावरण को स्पष्ट करते हुये नामवर जी लिखते हैं- "जिस समय द्विवेदीयुग की कविता स्थूल तथ्यों के संग्रह और कोरे वर्णन में व्यक्त थी, रहस्यवाद के आविर्भाव से काव्य में जीवन के मौलिक सत्यों और रहस्यों के प्रति जिज्ञासा का भाव प्रतिष्ठित किया। जीवन की क्षुद्रताओं से मनुष्य को ऊपर उठाकर उसे उच्च भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय रहस्यवाद को ही है।"[7]

रहस्यवादी कविता की सीमाओं पर भी नामवर जी ने प्रकाश डाला है। सामाजिक समस्याओं को रहस्य बनाकर रहस्यवाद ने अबुद्धिवाद, श्रद्धावाद, आत्मविस्मृति और अचेतना का प्रचार किया।

प्रगतिवाद- मार्क्सवादी विचारधारा पर आधारित होने के कारण प्रगतिवाद पर अभारतीयता का आरोप लगाया जाता है। नामवर जी स्पष्ट करते हैं कि यूरोप में उन्नीसवीं सदी में ही मार्क्सवाद की धूम थी किंतु भारतीय साहित्य में प्रगतिवाद 1930 के बाद आया। "इसका साफ मतलब है कि प्रगतिवाद हिन्दी में अपने समय पर ही

---

7. डॉ. नामवर सिंह : आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ.52

पैदा हुआ- ऐसे समय जब हिन्दी जाति और साहित्य की जमीन उसके अनुकूल तैयार हो गई थी।''[8]

प्रगतिवाद नामवर जी की दृष्टि में न तो सर्वथा विदेशी विचारधारा है और न केवल भारतीय परंपरा का ऐतिहासिक विकास। भारत में 'प्रगति' की आवाज उठानेवाले निस्संदेह यूरोप से लौटे हुये भारतीय साहित्यकार थे किंतु उस विशेष सामाजिक और साहित्यिक परिस्थिति में प्रगतिवाद का प्रादुर्भाव होना, युग की स्वाभाविक आवश्यकता थी। इस युग में साहित्य और राजनीति की घनिष्ठता पर जोर दिया गया। फलत: साहित्य के क्षेत्र में नवजीवन तो आया ही किंतु साथ ही एक प्रकार की संकीर्णता भी आ गई।

नामवर जी सामाजिक यथार्थ दृष्टि को प्रगतिवाद की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता के रूप में रेखांकित करते हैं। इस दृष्टि ने ही प्रकृति पर दृष्टिपात कर ग्राम्य प्रकृति के यथार्थ रूप का अंकन किया। आगे वह दलित किसान के जीवन के दु:ख दर्द का चित्रण करने लगे। सामाजिकता उनके व्यक्तिगत प्रेम को स्वस्थ बनाती है और उनमें वास्तविक देश प्रेम जगाती है। नामवर जी लिखते हैं- ''पहले की देश भक्ति सामान्योन्मुखी थी तो प्रगतिशील युग की देश भक्ति विशेषोन्मुख है और इसीलिए अधिक ठोस और वास्तविक है; यह विशेष के भीतर से ही सामान्य को प्रकट करती है। प्रगतिशील कविता का यही यथार्थवाद है।''[9] प्रगतिवादी कविता पर कलापक्ष की अवहेलना का भी आरोप लगाया गया। अनावश्यक सजाव श्रृंगार और पेचीदगी का

---

8. डॉ. नामवर सिंह : आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ.62
9. वही, पृ.79

अभाव नामवर जी के अनुसार उनकी 'गाँठ रहित' भाषा की विशेषता है। उसकी नैसर्गिकता ही उसका आकर्षण है। सरल सी दिखनेवाली वह भाषा वस्तुत: दु:साध्य है।

कविता की अपेक्षा कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिवाद अधिक व्यपक और सफल हुआ। मध्यवर्ग के जीवन में आये परिवर्तन का यथार्थ चित्रण इस युग के लेखकों ने किया है। प्रगतिवादी दृष्टिकोण ने उन्हें समाजवादी दृष्टिकोण के दो खतरों - मनोविश्लेषणवाद तथा सेक्सग्रस्त अद्भुत नायकों के निर्माण से बचाया है। साधारण पात्रों के निर्माण की कला को नामवर जी प्रगतिवादी लेखकों की उपलब्धी मानते हैं।

आलोचना के क्षेत्र में भी प्रगतिवाद का उल्लेखनीय योगदान है। शुक्ल जी ने समीक्षा को निष्क्रिय व्याख्या से आगे बढाकर सक्रिय परिवर्तनकारी सामाजिक शस्त्र बनाया। नामवर जी मानते हैं कि शुक्ल जी की इस विरासत को यथोचित रूप देने का उत्तरदायित्व प्रगतिवादी आलोचकों ने ही सँभाला। साहित्य के प्रतिक्रियावादी तत्वों को पहचानकर उनकी आलोचना करना ही उनका घोषित लक्ष्य है। इसी दृष्टि से उन्होंने संपूर्ण साहित्य परंपरा और फिर समकालीन साहित्य का विश्लेषण किया है। प्रगतिशील आलोचकों ने उस जनवादी परंपरा का पक्ष लिया है जिसकी मुख्य प्रेरक शक्ति पीडित शोषित जनता है।

प्रयोगवाद- नामकरण संबंधी विवाद को नामवर जी इस आधार पर खारिज करते हैं कि नामकरण तो प्राय: इसी तरह औचित्य-अनौचित्य को ध्यान में रखे बिना ही किया जाता है। 'प्रयोगवाद' नाम अपर्याप्त होते हुए भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में अब एक

स्थापित तथ्य है। प्रयोगवाद का तात्पर्य महज शिल्पगत प्रयोग नहीं है। उसकी मूल जीवन दृष्टि को उजागर करने का प्रयास नामवर जी ने किया है। 'वाद' के विरुद्ध विद्रोह प्रयोगशील कवियों की पहली विशेषता है। दूसरी विशेषता है सत्य के लिए निरंतर अन्वेषण। नामवर जी के शब्दों में "विज्ञान में जिसे 'ट्रायल एण्ड एरर' पद्धति कहते हैं, जीवन तथा साहित्य में प्रयोगशील कवि उसी को आदर्श मानते हैं- कोशिश करना और गलती होने पर उससे सबक लेकर फिर कोशिश करना, यही है जीवन के साथ प्रयोग। इस जीवन दृष्टि के अनुसार सारा जीवन प्रयोगों का एक सिलसिला है।"[10]

प्रयोगवाद का केन्द्र-बिन्दु 'चरम व्यक्तिवाद' है, जो दो सीमांतों के बीच फैला हुआ है। इनमें से एक सीमांत है मध्य वर्गीय परिवेश के प्रति मध्यवर्गीय कवि का वैयक्तिक असंतोष और दूसरा सीमांत है जन जागरण से डरे हुए कवि की आत्मरक्षा की भावना। नामवर जी का प्रयोगवाद के संबंध में निष्कर्ष है- "कुल मिलाकर प्रयोगवादी कविताएँ ह्रासोन्मुख मध्यवर्गीविय जीवन का यथार्थ चित्र है। इनमें मध्यवर्गीय हीनता, दीनता, अनास्था, कटुता, अंतर्मुखता, पलायन आदि का बडा ही मार्मिक चित्रण हुआ है।"[11]

वैचारिक संघर्ष का दस्तावेज : 'इतिहास और आलोचना'

'इतिहास औरआलोचना' में संकलित निबंध सन् 1952 और 1956 के बीच लिखे गये हैं । 'व्यापकता और गहराई', 'सामाजिक संकट और साहित्य', 'समाज

---

10. डॉ. नामवर सिंह : आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ.95
11. वही, पृ.122

और लेखक का व्यक्तित्व', 'अनुभूति और वास्तविकता' जैसे निबंध छठे दशक के वैचारिक संघर्ष के प्रत्यक्ष साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। इस वैचारिक संघर्ष की पृष्ठभूमि को मधुरेश इस प्रकार स्पष्ट करते हैं- "छठे दशक का यह पूर्वार्द्ध विश्व राजनीति में शीत-युद्ध के काल के रूप में जाना जाता है। पूँजीवादी और समाजवादी शक्तियों का ऐसा स्पष्ट ध्रुवीकरण इससे पहले कभी इस रूप में दिखाई नहीं दिया। समाजवादी शिविर में लेखकों के बीच यदि साहित्यकार की आस्था, लोक दृष्टि और लोक साहित्य, सामाजिक संकट और साहित्य जैसे विषयों पर ध्यान केंद्रित किया जा रहा था वहीं अमेरिकापरस्त पूँजीवादी मूल्य व्यवस्था के सभी लेखक, व्यक्ति स्वातंत्र्य, सत्ता और राजनीति, व्यापकता और गहराई आदि विषयों को उछालकर समाजवादी व्यवस्था में लेखक के दमन का सवाल जोर-शोर से उठा रहे थे। यही वह दौर या जब हिन्दी साहित्य विशेषांक के दोनों खंडों के प्रकाशन के बाद 'आलोचना' धर्मवीर भारती और उनके सहयोगी लेखकों के हाथ में आकर समाजवादी लेखकों और उनके साहित्य के विरोध का प्रमुख अस्त्र बन चुकी थी। प्रगतिशील लेखक संघ के विरोध में इलाहाबाद में 'परिमल' नामक संस्था का गठन और उसके अंतर्गत संचालित-गतिविधियाँ इस वैचारिक संघर्ष का मुख्य मंच बनी हुई थी। 'नई कविता' और 'निकष' जैसी पत्रिकायें सामाजिक यथार्थपरक साहित्य का विरोध करके व्यक्तिवादी कुंठाग्रस्त और ह्रासशील साहित्य को प्रोत्साहित कर रही थी। यही वह दौर था जब प्रेमचंद पर गहराई के अभाव का आरोप लगा कर उन्हें दूसरी श्रेणी का लेखक घोषित किया जा रहा था। नामवर सिंह के संदर्भ में पीछे जिस वैचारिक तेजस्विता की बात कही गई है उसकी वस्तुत: यही पृष्ठभूमि है।"[12] 'इतिहास और आलोचना' के निबंधों से नामवर जी के विचारों की प्रखरता और प्रतिपक्षियों से जूझने की क्षमता का पता चलता है।

---

12. मधुरेश : हिन्दी आलोचना का विकास, पृ.178

आलोचना के संपादकीय, 'मूल्यगत संक्रमण और समीक्षा का मानदण्ड' में सौंदर्यबोध पर तत्कालीन सम्पादक ने विचार करते हुए लिखा थौ- "हम किसी ऐसे सौंदर्यबोध को स्वीकार नहीं करते जिसका प्रभाव नितांत वैयक्तिक अथवा असामाजिक हो।"[13] आगे इसी संदर्भ में वे कहते हैं- "साहित्यिक सौंदर्यबोध के क्षेत्र में अनुभूति की निर्भरता, अभिव्यक्ति की निर्वैयक्तिकता अथवा प्रभाव की अलौकिकता को हम वैयक्तिक अनुभूति के विशिष्ट क्षणों और सामाजिक जीवन के विशिष्ट मूल्यों को संतुलन के अर्थ में ही ग्रहण कर सकते हैं अन्यथा नहीं।"[14]

उपर्युक्त विचारों की तीखी प्रत्यालोचना करते हुए 'अनुभूति और वास्तविकता' निबंध में नामवर जी लिखते हैं- "एक ही वाक्य में पहले अनुभूति की निर्भरता और फिर वैयक्तिक अनुभूति। कोई बात नहीं। केशवदास की सीख मान 'जपत रहत न डरत पुनरुक्ति को' शब्द अच्छा है तो दो बार आने से गुणकारी होगा पहली बार निर्भरता को समेटने में वैयक्तिकता छूट गई और दूसरी बार वैयक्तिकता को सँभालने में निर्भरता चली गई।"[15] नामवर जी वैयक्तिक अनुभूति में 'वैयक्तिक' को अनपेक्षित मानते हैं क्योंकि अनुभूति तो व्यक्ति को ही होती है। इस अनुभूति का विश्लेषण करते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि अपने को अनुभव करना, अपने कार्य को अनुभव करना है। कार्य करने का अर्थ है व्यक्तिगत सीमा से निकलना। कार्य करते ही हम समाज की सीमा में आ जाते हैं और हमारे कार्य सामाजिक हो जाते हैं।

---

13. आलोचना- अक्तूबर 1953 (संपादकीय)
14. वही
15. डॉ. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ.46

रचनात्मक रूपांतर को स्वीकृति- नामवर सिंह प्रयोगवादी रूप और प्रगतिशील वस्तु के समन्वय को श्रेयस्कर नहीं मानते। वे मानते हैं कि जनवादी भावनायें प्रयोगवादी शिल्प में जाते ही अपनी शक्ति खोकर एकदम प्रयोगवादी हो जाती हैं। इसका उदाहरण शमशेर की 'वर्ली के किसानों' और 'ग्वालियर के गोली कांड' जैसी कवितायें हैं। वे अनेक आलोचकों के इस मत का विरोध करते हैं कि प्रगतिशील कवियों ने शिल्प की ओर ध्यान नहीं दिया। प्रगतिवाद वस्तुत: छायावाद की प्रतिक्रिया में उत्पन्न प्रवृत्ति है। यह प्रतिक्रिया केवल विषय वस्तु तक सीमित नहीं है। निराला और पंत की काव्यशैली में आगे परिवर्तन आया था। उत्तर छायावादी कवियों में सियारामशरण गुप्त और नरेन्द्र शर्मा की कविताओं में भी छायावाद से भिन्न तथा नई काव्यशैली का प्रयोग हुआ है। नामवर जी का मत है- "नई कविता में जो रूप की नवीनता है, उसकी बुनियाद बहुत कुछ निराला-नरेन्द्र ने ही डाल दी थी। बाद में '41-'42 के औनपौन तारसप्तकी कवियों तथा शमशेर, त्रिलोचन,चंद्र कुँवर वर्त्वाल, केदारनाथ अग्रवाल, भवानीप्रसाद मिश्र आदि अन्य कवियों ने उस बुनियाद पर कुछ और नई ईंटें रखने का कार्य किया।"[16] नई कविता के रूप और शिल्प की यही पृष्ठभूमि है। जिस नये रूप विधान का निर्माण प्रगतिशील आंदोलन के दौरान हुआ उसमें आगे चलकर ह्रासोन्मुखी भावनाओं को ही अभिव्यक्ति मिली। नामवर जी का विरोध प्रयोगवादी रूप मात्र से नहीं है- विरोध उस रूप के रचनात्मक रूपान्तर न कर पाने से है। जो प्रगतिशील कवि प्रयोगवादी शब्दों को पचाने की सामर्थ्य नहीं रखते उन्हें वे अपनी पूँजी बचाकर रखने की हिदायत करते हैं। जब सशक्त प्रगतिशील कवि तथाकथित प्रयोगवादी रूप अपनाते है तो विषय की शक्ति उस रूप को भी अपने अनुसार ढाल लेगी। यही रचनात्मक रूपान्तर है।

---

16. डॉ. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ.56

रूप की अपेक्षा विषय वस्तु का महत्व- नामवर जी मानते हैं कि रूपवादी रचना में विचार या भाव का सर्वथा अभाव नहीं होता किंतु उसमें भाव की अपेक्षा शिल्प का उभार अधिक होता है। उनका कहना है, "रूपवादी बहुत कुछ उस बतकहे की तरह है जिसमें बात करने का कौशल तो खूब है, परंतु कहने केलिए कोई महत्वपूर्ण बात नहीं और उसके साथ घण्टे दो घण्टे बात करने के बाद भी कुछ भी हासिल नहीं होता।"[17] महान कथ्य के साथ प्रभावशाली अभिव्यक्ति स्वाभाविक रूप से जुड जाती है। भक्ति एवं रीतिकालीन साहित्य के माध्यम से नामवर जी इसे स्पष्ट करते हैं। भक्त कवियों ने लोक संग्रह की भावना से, रूपविधान की चर्चा किये बिना श्रेष्ठ और महान साहित्य रचा पर रीतिकालीन कवि सारा ध्यान रूप पर केन्द्रित करने के बावजूद, कमजोर साहित्य ही रच सकें।

पाँचवें दशक की कविता- उत्तर छायावादी कविता अनेक अंतर्विरोधों के साथ सामाजिक यथार्थ की ओर उन्मुख हुई। नामवर जी की मान्यता है कि इस अन्तर्विरोध के मूल में छायावादी व्यक्तिवाद की पराकाष्ठा थी। इस व्यक्तिवाद ने दलित जन पर करुणा दिखाकर सामाजिकता का परिचय दिया। यथार्थवाद के आरंभिक दौर में साहित्य में आये बदलाव को नामवर जी इस प्रकार स्पष्ट करते हैं- "विषय वस्तु के साथ रूप तत्व में भी परिवर्तन हुआ। कल्पना वैभव, चित्र मोह, शब्द मोह, पेलवता, कोरी भावुकता, स्वप्निल कुहासा, लाक्षणिक वक्रता आदि साज सज्जा जाती रही। तथ्यकथन, खरापन, विचारगत प्रौढता, सादगी और सफाई, मुक्त छंद का निर्बाध प्रवाह, भाषा में गद्यात्मक व्यावहारिकता आदि बातों का समावेश हुआ।"[18]

---

17. डॉ. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ.21
18. वही, पृ.76

उत्तर-छायावादी, विशेषत: नई कविता की मूल-चेतना में एक अन्य परिवर्तन भी स्पष्ट दिखाई देता है। कविता का वातावरण अधिकांशत: ग्रामीण हो उठा। इसका कारण था कि साहित्कारों ने भारत की जनशक्ति को पहचाना जो किसान मजदूर वर्ग है। नामवर जी इस तथ्य पर इस प्रकार प्रकाश डालते हैं- "इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से यह पता चलता है कि लोक जीवन ऐसी शक्ति है जो सामाजिक गतिरोध को तोडने के साथ ही साहित्यिक गतिरोध को भी समाप्त करती है। कविता में जब कवियों को नया मार्ग नहीं सूझता, नई दिशायें मेघाछन्न दिखाई पडती हैं और पुरानी चाहरदीवारी से निकलने का उपाय नहीं सूझता तो लोक शक्ति ही मशाल लेकर आगे बढती है। . . . अन्धकार को चीरती है, कुहरे को छाँटती है, मार्ग प्रशस्त करती है और दम घुटते कवियों की संज्ञा में प्राणवायु का संचार करती है। नया कवि इस प्राणदायिनी लोक शक्ति के ऋण को स्वीकार करने में गौरव का अनुभव करता है और इस स्वीकृति से उसे बार-बार पुनर्जीवन मिलता है।"[19] नामवर जी मानते हैं कि इस कोटि के कवियों ने अनायास ही अंत:संस्कार के रूप में लोक भाषा का प्रयोग किया।

'इतिहास और आलोचना' में पाँचवे दशक की हिन्दी कविता के वस्तु, रूप और सरोकार पर विस्तार से विचार किया गया है। इससे इस दशक की कविता को सही परिप्रेक्ष्य में समझने में आसानी होती है।

कालजयी काव्यालोचना- 'कविता के नये प्रतिमान'

'कविता के नये प्रतिमान' की भूमिका में नामवर जी लिखते हैं- "लेखक का विश्वास है कि जिस तरह वैयाकरण भाषा के शब्द नहीं बनाता, उसी तरह आलोचक भी

---

19. डॉ. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ.87

काव्य के मूल्यों का निर्माण नहीं करता है। शब्दानुशासन के समान ही काव्यानुशासन भी वस्तुत: अनुशासन है, शासन नहीं।"[20] सर्जनात्मकता और सर्जनशील लेखक को पहचानने और उसे प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयास इस कृति में सर्वत्र दिखाई देता है। इसकी विलक्षणता का आधार यह भी है कि प्राचीन साहित्य की समस्त दाय का उपयोग करते हुये भी, वर्तमान कविता को आधार बनाकर ही नामवर जी ने प्रतिमानों की खोज की है। संस्कृत काव्यशास्त्र, समकालीन हिन्दी कविता और पश्चिमी सौंदर्यशास्त्र के घनिष्ठ संबंध से प्रमाणित होता है कि ज्ञान के क्षेत्र में कुछ भी वर्जित नहीं है।

सन् 1957 में लक्ष्मीकांत वर्मा ने 'नई कविता के प्रतिमान' लिखकर यह घोषित किया कि पुराने रसवादी काव्य प्रतिमानों से नई कविता का मूल्यांकन असंभव है। नामवर जी ने सिर्फ नई कविता के संदर्भ में काव्य प्रतिमानों की चर्चा नहीं की वरन् समूची कविता के मूल्यांकन केलिये प्रतिमानों की खोज पर बल दिया।

कविता : स्वरूप और प्रतिमान- पहले ही अध्याय 'कविता क्या है' से कविता को पहचानने का उपक्रम आरंभ हो जाता है। कविता और उसके 'नयेपन' का स्पष्टीकरण पुराने सिद्धांतों के आधार पर नहीं दिया जा सकता। नई कविता की रचना प्रक्रिया छायावादी कविता से भिन्न है। नामवर जी लिखते हैं- "छायावादी काव्य रचना की प्रक्रिया जहाँ भीतर से बाहर की ओर है, वहाँ नई कविता की रचना प्रक्रिया बाहर से भीतर की ओर है। एक के रूप पर भाव का आरोपण है तो दूसरी में रूप का भाव में रूपांतरण।"[21] उनके विचार से नई कविता का मूल्यांकन करने से पूर्व आलोचक में यह

---

20. डॉ. नामवर सिंह : कविता के नये प्रतिमान, भूमिका
21. डॉ. नामवर सिंह : कविता के नये प्रतिमान, पृ.24

समझ वांछनीय है। छायावाद यदि अनुभूति पर बल देता है तो नई कविता अनुभूतियों के परिवर्तित संदर्भ पर और रागात्मकता से अधिक रागात्मक संबंधों पर। छायावादी संस्कारों से मुक्त होकर ही उस कवि-कर्म को समझा जा सकता है जिसमें रूप को ही भाव में रूपांतरित किया जाता है।

सियारामशणण गुप्त द्वारा विवेचित एक उदाहरण उद्धृत कर नामवरजी छायावादी संस्कारों को स्पष्ट करते हैं। 'शुष्को वृक्ष: तिष्ठति अग्रे' और 'नीरस तरुवर विलसति पुरत:' में प्राय: आलोचक पहले को गद्य और दूसरे को पद्य कहते हैं। नामवर जी का मत है- "बद्धमूल छायावादी संस्कार का यह एक उदाहरण है जो श्री सियारामशरण गुप्त के उक्त खंडन के बाद भी एकदम समाप्त नहीं हुआ है। . . . . गद्य को कविता के विरुद्ध रखने का अर्थ ही है, गद्य को यथार्थवाद का प्रतीक मानना और कविता को रोमांटिकता का।"[22]

कविता के प्रतिमानों को निर्धारित करने से पूर्व कविता पाठ की सही पद्धति के आविष्कार की आवश्यकता पर नामवर जी बल देते हैं। पद्धति के अभाव के कारण ही आलोचक नई कविता के कथ्य का तिरस्कार कर उसकी भाषा शैली की प्रशंसा करते हैं। कविता पाठ की वांछनीय पद्धति का खुलासा नामवर जी इस प्रकार करते हैं "प्रस्तुत शब्दों से प्रारंभ करके विविध अर्थ सरणियों पर क्रमश: संचरण करते हुये, संभाव्य कथ्य तक पहुँचने में आलोचक को स्वयं जो आभास होता है, उसी से वह कवि की शब्द साधना का भी अनुमान करता है और तदनुसार मूल्यांकन भी करता है। किसी काव्य कृति के आयत्तीकरण की इस प्रक्रिया में कथ्य से अलग शब्दों और

---

22. डॉ. नामवर सिंह : कविता के नये प्रतिमान, पृ.30

बिंबों की सुंदरता का सवाल ही नहीं उठता। वहाँ कथ्य के आलोक में शब्द-बिंब-लय आदि की सार्थकता का प्रश्न मुख्य होता है। इसलिये मूल्य निर्णय समग्र होता है।"[23] नामवर जी समर्थन करते है कि नई कविता वस्तुत: कविता की उसी स्वायत्तता, स्वकीयता और स्वधर्म की पक्षधर है जिसकी अभिनवगुप्त और मम्मट ने शताब्दियों पूर्व स्थापना की थी और जिसे इलियट ने कविता की निजी 'इंटिग्रिटी' कहा।

रस सिद्धांत के प्रति 'विवेकपूर्ण रुख' की माँग नामवर जी करते हैं। अर्थ मीमांसा के बिना रस को सर्वांगीण और सार्वभौम काव्य प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास वे अभिनवगुप्त औरआई.ए. रिचार्डस से मिथ्या स्पर्धा कहते हैं। रस-निर्णय, अंतत: अर्थ- निर्णय पर निर्भर है। यह अर्थ-निर्णय पाठ के सूक्ष्म विश्लेषण से संबद्ध है। "यदि विश्लेषण के लिये यथेष्ट धैर्य हो तो काव्य में अर्थगत संभावना अनंत है और कोई भी विश्लेषण अर्थ को नि:शेष करने में समर्थ नहीं है।"[24]

'कामायनी', 'उर्वशी' और 'तारसप्तक' - पुर्नमूल्यांकन पर पुनर्विचार

'कामायनी', 'उर्वशी' और 'तारसप्तक' के पुनर्मूल्यांकन के संदर्भ में विभिन्न आलोचकों के विचारों का विश्लेषण किया गया है। इन के माध्यम से लेखक ने नये प्रतिमानों की अपनी स्थापनाओं को स्पष्ट और मूर्त करने की कोशिश की है।

दिनकर की 'उर्वशी' से जुडे विवाद को नामवर जी ऐतिहासिक घटना मानते हैं। किसी कृति के मूल्य के संबंध में समकालीन साहित्यकारों के बीच ऐसा मतभेद सर्वसम्मत प्रतिमान के अभाव की ओर संकेत करता है। 'तार सप्तक' से जुडे विभिन्न

---

23. डॉ. नामवर सिंह : कविता के नये प्रतिमान, पृ.37
24. वही, पृ.47

प्रगतिशील कवियों ने अपनी-अपनी आलोचना में उस नए भाव-बोध की विभिन्न छायायें दिखाई हैं। नामवर जी स्पष्ट करते हैं- "उर्वशी की आलोचना के प्रसंग में यदि रामविलास शर्मा एक छोर पर है और मुक्तिबोध दूसरे छोर पर, तो यह केवल संयोग की बात नहीं है। अंतर भाषा बोध का ही नहीं बल्कि मूल्यबोध का भी है। एक केलिये जो भाषा उदात्त है, दूसरे के लिये कोरा वागाडंबर है। एक को जहाँ आस्था का स्वर सुनाई देता है, दूसरे को थोथी दार्शनिकता। दोनों ही 'तार सप्तक' के कवि हैं और साथ ही प्रगतिशील विचारधारा से संबद्ध भी, फिर भी काव्य बोध में इतना अंतर। स्पष्ट ही यह व्यक्तिगत रुचि-भेद मात्र नहीं बल्कि दो भिन्न सुसंगत मूल्य-प्रणालियों का अंतर है जिनके सीधे टकराव में सार्थक एवं प्रसंगानुकूल मूल्यों के विकास की संभावना निहित है।"[25]

आधुनिक हिन्दी काव्य कृतियों में कामायनी सर्वाधिक चर्चित ग्रंथ है। उस पर सबसे अधिक आलोचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। रामचंद्र शुक्ल, नन्दसुलारे वाजपेयी, विजयदेव नारायण साही, रामस्वरूप चतुर्वेदी, मुक्तिबोध जैसे अनेक विद्वानों ने इसके मूल्यंकन का प्रयास किया है। श्रेष्ठ साहित्यिक कृति के रूप में मान्यता प्राप्त कामायनी में प्राय: सभी सूक्ष्मद्रष्टा साहित्यकारों ने किसी न किसी स्तर पर असंगति का अनुभव किया है। कहीं कथानक और चरित्रों के बीच, तो कहीं कमजोर भाषा और कुशल बिंब प्रयोग के बीच। नामवर जी के अनुसार पुनर्मूल्यांकन के नियामक तत्व मूल्य हैं और यह गुणनात्मक स्तर पर भिन्न मूल्य दृष्टि द्वारा ही संभव है। इस दृष्टि से मुक्तिबोध की पुस्तक 'कामायनी : एक पुनर्विचार' को वे सर्वाधिक उल्लेखनीय पुस्तक

---

25. डॉ. नामवर सिंह : कविता के नये प्रतिमान, पृ.72

मानते हैं। 'एक नये सृजनशील कवि के नाते मुक्तिबोध काव्य और जीवन दोनों ही क्षेत्रों में छायावाद के प्रतिक्रियावादी मूल्यों के खिलाफ संघर्ष करना अपना कर्तव्य समझते थे, इसलिये उन्होंने विशेष रूप से कामायनी के भीतर घुसकर उन 'सामाजिक ऐतिहासिक शक्तियों' का उद्घाटन किया जिन्होंने हिन्दी में व्यक्तिवादी रोमांसवाद, छायावादी भावुकता तथा भाववादी-आदर्शवादी विचारधारा का प्रणयन किया। .... इस प्रकार मुक्तिबोध का 'कामायनी' : एक पुनर्विचार' केवल कामायनी को 'फैंटेसी' के रूप में देखने का कलावादी प्रयास भर नहीं, बल्कि उस 'फैंटेसी' में निहित जीवन मूल्यों की समीक्षा करते हुये नये मूल्यों की व्याख्या का मूल्यपरक विवेचन है।"[26]

'तार सप्तक : इतिहास की आवृत्ति' शीर्षक अध्याय कविता के नये प्रतिमानों की खोज में अत्यंत महत्वपूर्ण है। 'तार सप्तक' के पुर्नमुद्रण को अवसर मानकर लिखे गये इस अध्याय में डॉ. नामवर सिंह ने हिन्दी कविता में विकसित दो भिन्न परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों को उजागर करते हुये मुक्तिबोध, त्रिलोचन, नागार्जुन और शमशेर की रचनाओं को आगे रखा है।

'तार सप्तक' में जहाँ 'राहों के अन्वेषण' की बात की गई थी, 'दूसरा सप्तक' में बल आत्म-अन्वेषण पर आ गया। दूसरा सप्तक में 'व्यक्ति-सत्य' को 'वस्तु सत्य' की दिशा में विस्तृत करने की अपेक्षा रागात्मकता के द्वारा 'तथ्य' को 'सत्य' बनाने पर बल है। इस तरह तारसप्तक की परंपरा को आत्मनिष्ठ मोड दिया गया। नामवर जी आत्मनिष्ठता के विरुद्ध वस्तु निष्ठता तथा व्यक्ति सत्य की अपेक्षा वस्तु सत्य को महत्व

---

26. डॉ. नामवर सिंह : कविता के नये प्रतिमान, पृ.78

देते हैं। वे लिखते हैं- "मुक्तिबोध की स्पष्ट धारणा थी कि नयी कविता के क्षेत्र में दो दल तैयार हो रहे हैं- एक दल वह है जो उच्च मध्य वर्ग का अंग है दूसरे वे हैं जो निचले मध्य वर्ग से संबंधित हैं । उनकी वर्गीय प्रवृत्तियाँ न केवल उनके काव्य में वरन् साहित्य संबंधी उनके सिद्धांतों में भी परिलक्षित होती है इसलिये मुक्तिबोध ने इस निचले गरीब मध्यवर्ग से संबंधित नयी कविता के भाव-बोध का डटकर पक्ष समर्थन भी किया।"[27] इस प्रकार तार सप्तक के पुर्नमुद्रण के ऐतिहासिक संदर्भ में मुक्तिबोध का संघर्ष परिलक्षित किया गया है।

काव्य भाषा, काव्य बिंब और काव्य संरचना -'कविता के नये प्रतिमान' के दूसरे खंड में कविता के विभिन्न अवयवों का निरीक्षण करते हुये प्रतिमानों की खोज की गई है। काव्य भाषा और सृजनशीलता का संबंध, बिम्ब प्रधानता से सपाटबयानी तक कविता की यात्रा, उसकी संरचना के प्रगीतात्मक और नाटकीय रूप आदि संदर्भों में नयी कविता का मूल्यवान विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। काव्य भाषा और सृजनशीलता की चर्चा में कथ्य और भाषा पर अलग-अलग विचार की पद्धति के मूल और उसकी असंगतियों को दिखाते हुये कहा गया है, "आलोचक की वस्तुनिष्ठता इस बात में है कि वह किसी कृति के मूल्यांकन की प्रक्रिया में उसके रूप की जो पुन:सृष्टि अपने लिये करता है वह यथासंभव अधिक से अधिक मूलकृति के निकट हो। इस प्रयास में एकमात्र अवलम्ब उस कविता की भाषा है।"[28] काव्य भाषा को मूल्यांकन के आधार के रूप में स्वीकार किया गया है। नामवर जी मानते हैं कि 'वर्डस ऑन द पेज' को आधार मानकर विश्लेषण करके ही सम्पूर्ण कविता का फल बताया जा सकता है।

---

27. डॉ. नामवर सिंह : कविता के नये प्रतिमान, पृ.94
28. वही, पृ.102

बोलचाल की भाषा के विषय में उनकी मान्यता है कि वह केवल भाषागत स्वाभाविकता नहीं है बल्कि उसके साथ कवि का एक गंभीर नैतिक साहस जुडा होता है। बोलचाल की भाषा का आग्रह ही कविता में सपाटबयानी के लिये जिम्मेदार है। नामवर जी के लिये जो भी तत्व वास्तवितकता को धुँधला या ओझल करे, वह त्याज्य है, इसीलिये उन्हें सपाटबयानी भी स्वीकार है क्योंकि वह वास्तविकता से बचने की गुंजाइश नहीं छोडती।

काव्य बिंब को कविता के मूल्यांकन के लिये प्रतिमान के रूप में स्वीकार करने का वे विरोध करते हैं। बिम्ब विधान प्राय: सत्यकथन में बाधक सिद्ध होता है। नई कविता के सामने समस्या परिस्थितियों के सीधे 'साक्षात्कार' की थी। बिम्ब विहीन कविताओं का स्वागत करते हुये नामवर जी लिखते हैं - "कविता में बिम्ब वास्तविकता के साक्षात्कार का ही सूचक नहीं होता, प्राय: वह वास्तविकता से बचने का एक ढंग भी रहा है। काव्य भाषा के लिये भी प्राय: बिम्ब योजना हानिकारक सिद्ध हुई है। बिम्बों के कारण कविता बोलचाल की भाषा से अकसर दूर हटी है, बोलचाल की सहज लय खंडित हुई है, वाक्य विन्यास की शक्ति को धक्का लगा हैं, भाषा के अंतर्गत क्रियायें उपेक्षित हुई है, विशेषणों का अनावश्यक भार बढा है और काव्य-कथ्य की ताकत कम हुई है। इन कमजोरियों को दूर करने के लिये ही कविता में तथाकथित 'सपाटबयानी' अपनाई जा रही है, जिसमें फिलहाल काफी संभावनायें दिखाई पडती है।"[29]

'काव्य संरचना : प्रगीतात्मक और नाटकीय' में, कविता की आलोचना में 'खण्ड दृष्टि' या एक-एक दोहे अथवा पंक्ति पर दाद देने की प्रवृत्ति की व्यर्थता

---

29. डॉ. नामवर सिंह : कविता के नये प्रतिमान, पृ.131

दिखाते हुये, आज की कविता की संचरात्मक सघनता की ओर इशारा किया गया है और दिखाया गया है कि किस प्रकार यह संरचना छोटी कविता की प्रगीतात्मकता से मुक्तिबोध की लम्बी कविताओं की नाटकीयता की ओर अग्रसर हुई है। प्रगीत और नाटकीय कविता का भेद स्पष्ट करते हुये नामवर जी लिखते है-"छोटी कविता मूलत: प्रगीत कविता है जबकि लम्बी कविता नाटकीय कविता है। नाटकीय कविता अरस्तू द्वारा निरूपित, कार्य का अनुकरण (Imitation of Action) सिद्धांत पर आधारित होती है जबकि प्रगीत कविता में सारा बल अनुचिंतन पर होता है। छोटी कविता के लिये किसी विषय वस्तु का होना आवश्यक नहीं है; विषय वस्तु निहायत मामूली सी चीज भी हो सकती है; किंतु प्रगीत कवि उस विषय वस्तु का अनुकरण करने केलिये बाध्य नहीं है।"[30] उपर्युक्त विवेचन के आधार पर नामवर जी का मत है कि आकार की लम्बाई, छोटी सी कथा और नाटकोचित संवाद होने पर भी अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' एक प्रगीत है। प्रगीतों की अति-व्याप्ति ने मूल्यांकन के प्रतिमानों को भी प्रभावित किया। नामवर जी लिखते है- "प्रगीत कविता, कविता का पर्याय हो गई और प्रगीत का प्रतिमान कविता का प्रतिमान हो गया। परिणाम स्वरूप जो लम्बी कवितायें इस दायरे में नहीं आती थी, अपने आप तिरस्कृत हो गई। इसका दंड सबसे अधिक मुक्तिबोध को ही भोगना पडा।"[31]

नामवर जी कविता के प्रतिमान को व्यापकता प्रदान करने की दृष्टि से आत्मपरक नई कविता की दुनिया से बाहर की कविताओं को विचार क्षेत्र में लाने की माँग करते हैं। इसके अंतर्गत वे पहले श्रीकांत वर्मा की 'समाधि-लेख', रघुवीर सहाय की

---

30. डॉ. नामवर सिंह : कविता के नये प्रतिमान, पृ.142
31. वही, पृ.143

'आत्महत्या के विरुद्ध' और राजकमल चौधरी की 'मुक्ति प्रसंग' कविताओं का उल्लेख करते हैं जो काव्यानुभूति में आत्मपरकता का आभास देते हुये भी संरचना में अप्रगीतात्मक हैं। दूसरा वर्ग है लम्बी नाटकीय कविताओं का जिसमें विजयदेव नारायण साही की 'अलविदा' और मुक्तिबोध की 'अँधेरे में' शीर्षक कवितायें हैं।

कविता के प्रतिमान और रचयिता की नीयत- काव्यालोचना के कुछ प्रतिमान रचयिता की नीयत से उभारे गये हैं। मसलन विसंगति और विडंबना। यह, स्थिति के प्रति कवि के रुख को व्यक्त करनेवाला सूत्र है। नये कवियों ने गहरी व्यथामूलक स्थितियों को व्यक्त करते हुए अगंभीर प्रसंग लाकर विडंबना का वातावरण बनाया है। नामवर सिंह का मानना है कि यह स्थितियों के साथ क्रीडा-भाव है। उनका कहना है, "स्थिति को एक नाटक के रूप में स्वीकार करना और नाटकीय बुनावट के साथ उसे काव्यबद्ध करना तथाकथित सिनिसिज्म का रचनात्मक उपयोग है।"[32] रोमानी रुचि से मुक्त होकर, कम शब्दों में, तीक्ष्ण विचारों और सधे भावों से युक्त ठोस कविता लिखी जा सकती है।

नयी कविता के प्रसंग में 'अनुभूति की जटिलता और तनाव' का प्रश्न बार-बार उठाया जाता है। स्वतंत्रता संग्राम का विश्लेषण करते हुए नामवर जी ने कहा है कि गाँधीजी संघर्ष टालते थे, जटिलताओं से भागते थे। इसलिए संघर्षशील लोग उनसे अलग हो गये। छायावादी कवियों में भी सामंजस्य की अधीरता का मनोविज्ञान मौजूद था। उनमें निराला अपवाद थे। जीवन में बुनियादी परिवर्तन केलिए तनाव झेलनेवाले

---

32. डॉ. नामवर सिंह : कविता के नये प्रतिमान, पृ.171

कवि मुक्तिबोध भी है। वे संघर्ष की परंपरा को आगे बढाते हैं। नयी कविता यदि इस प्रकिया को प्रतिमान की तरह आगे बढाये तो नामवर सिंह आलोचक के रूप में उसकी सराहना करते हैं।

कवि की नीयत की ओर से 'ईमानदारी' का सवाल उठाया गया है। 'ईमानदारी और प्रामाणिक अनुभूति' शब्दयुग्म चल पडा है। प्रगतिवादियों ने श्रमिकों की पक्षधरता को ईमानदारी कहा। लक्ष्मीकांत वर्मा और अज्ञेय आदि ने इसे व्यक्तिगत, आत्मपरक, रहस्यमूलक बना दिया। रूमानी भावुकता और गलदश्रु भावुकता भी ईमानदारी कही गयी। मुक्तिबोध ने इसकी वैज्ञानिक व्याख्या की। उन्होंने तमाम लोगों की ईमानदारी की ओट में आत्मवंचनाओं को खोला और ईमानदारी की स्थिति सापेक्षता को रेखांकित किया। नामवर सिंह यहाँ भी मुक्तिबोध के साथ है।

मूल्यांकनपरक व्यावहारिक आलोचना- 'कविता के नए प्रतिमान' में उस दौर की महत्वपूर्ण कविताओं का विभिन्न संदर्भों में विश्लेषण और उसके द्वारा विभिन्न निष्कर्षों और वक्तव्यों की संपुष्टि की गई है। निराला, अज्ञेय, विजयदेव नारायण साही, रघुवीर सहाय, शमशेर बहादुर सिंह आदि की कविताओं को बडी सतर्कता से जाँचा गया है। कव्य बिम्ब के संदर्भ में 'अकाल और उसके बाद' कविता का विश्लेषण कर, उन्होंने नगार्जुन के असाधारण कवि- कौशल पर प्रकाश डाला है। वास्तविकता के मर्म की आंतरिक पहचान को तथाकथित बिम्बवादी मूर्तिमत्ता से वे श्रेयस्कर मानते हैं। त्रिलोचन की कविता 'धरती' की बारीकियों को भी वे उजागर करते हैं, जिसे उसकी योग्यता के अनुरूप ख्याति नहीं मिली। नामवर जी लिखते हैं "त्रिलोचन की

'धरती' की सहजता का आधार है अटूट वाक्य विन्यास, जिसके अनवरुद्ध प्रवाह को 'सॉनेट' के कसे रूप में बाधते हुए उन्होंने ऐसी भाषा का प्रयोग किया है जिसकी 'ध्वनि में क्रिया भरी है और क्रिया में बल है।' इस भाषा के आग्रह के पीछे वही दृष्टि है जिसके कारण सातवें दशक के कवि आज सपाटबयानी पर उतरने केलिए विवश है।"[33]

रघुवीर सहाय की कविता 'शराब के बाद का सबेरा' में आये हुए 'मलबे के तले से एक हाथ छुडाकर उसे टोता हूँ। ढ नहीं ट' को नयी कविता से सहानुभूति रखनेवाले नेमीचन्द्र जैन जी ने 'कोरा क्रीडा कौतुक' कहा था। नामवर जी का विश्लेषण है, "शराब की आधी बेहोशी में जिस आदमी को अपनी मरी हुई माँ याद आ रही है और जिसे लगता है कि पडोस का मकान उसपर गिर पडेगा, वह क्या खिलवाड की मन:स्थिति में है? बचपन के आखिरी दिन से क्या स्पष्ट नहीं कि शराब ने उसे सहसा बचपन की स्थिति में पहुँचा दिया है? उस स्थिति में यदि वह ककहरा सीखनेवाले बच्चे की तरह 'ढ नहीं ट' कहता है तो उसमें असंगति कहाँ है।"[34] नामवर जी का विचार है कि गहरी व्यथा की विडंबना को क्रीडा कौतुक समझना आलोचक की अधूरी समझ और पूर्वग्रह का परिचायक है। प्रतिमानों का व्यवहार में प्रयोग करते हुये लिखे गये हैं परिशिष्ट के दो निबंध- 'अंधेरे में : परम अभिव्यक्ति की खोज' तथा 'अंधेरे में : पुनश्च'। कविता की मूल प्रकृति के संवेदनशील आस्वाद की दृष्टि से यह विश्लेषण हिन्दी आलोचना की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

---

33. डॉ. नामवर सिंह : कविता के नये प्रतिमान, पृ.127
34. वही, पृ.153

लोकोन्मुख प्रगतिशील परंपरा की पहचान -'दूसरी परंपरा की खोज'

'दूसरी परंपरा की खोज' में नामवर जी ने अपने आकाशधर्मी गुरु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व और कृतित्व को केन्द्रित किया है। वस्तुत: नामवर जी उन्हें व्यक्ति के रूप में नहीं देखते बल्कि परंपरा के रूप में देखते और परखते हैं। इसके आठ अध्यायों में "न पण्डित जी की कृतियों की आलोचना है, न मूल्यांकन का प्रयास; अगर कुछ है तो बदल देनेवाली उस दृष्टि के उन्मेष की खोज जिसमें एक तेजस्वी परंपरा बिजली की तरह कौंध गई थी।"[35]

क्रान्तिकारी कबीर- रहस्यवादी कवि के रूप में चर्चित कबीर के क्रांतिकारी पक्ष का उद्घाटन सर्वप्रथम हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने किया। द्विवेदी जी ने ही कबीर के माध्यम से जाति धर्म निरपेक्ष मानव की प्रतिष्ठा की। नामवर जी इसी को दूसरी परंपरा मानते हैं। इस संदर्भ में 'पहली परंपरा' का स्पष्टीकरण भी समीचीन होगा। यह साहित्य के प्रतिष्ठित प्रतिमानों और मूल्यों की परंपरा है। शुक्ल जी इस परंपरा के आलोचक हैं। परंपराओं के भेद को स्पष्ट करते हुये नामवर जी तीन स्तरों पर उन्हें परखते हैं- "पहले साहित्य का सामाजिक आदर्श। शुक्ल जी के लोक धर्म के प्रतीक तुलसीदास है; द्विवेदी जी के कबीर भक्ति के स्तर पर बहुत कुछ समान, व्यवहार के स्तर पर एकदम विरुद्ध। यों स्वयं तुलसी कबीर का नाम बिना लिये स्पष्ट विरोध करते हैं और शुक्ल जी की इसमें सहमति है। द्विवेदी जी इस बात में तुलसीदास से भी असहमत हैं और शुक्ल जी से भी। क्या यह विरोध भी परंपरा में शामिल है? यदि हाँ तो फिर विकास है या ह्रास?

---

35. डॉ. नामवर सिंह : दूसरी परंपरा की खोज, भूमिका

फिर भावबोध। शुक्लजी की दृष्टि में सूर की गोपियों का प्रेम एकांतिक है अथवा लोक विरोधी। द्विवेदी जी की दृष्टि में सूर की गोपियों का प्रेम कुल-जाति की मर्यादा को तोडता है, इसलिये लोकवादी है। यदि यह विरोध भी परंपरा में ही शामिल है तो विकास है या ह्रास?

अंत में भाषा और कला। शुक्ल जी की दृष्टि में कबीर की वाणी असाहित्यिक और ऊटपटाँग है। द्विवेदी जी की दृष्टि में कबीर वाणी के डिक्टेटर हैं और व्यंग के बादशाह।"[36] स्पष्ट है कि शुक्ल जी साहित्य की प्रतिष्ठित परंपरा से जुडे हैं और द्विवेदी जी ने इससे भिन्न एक लोकोन्मुख प्रगतिशील परंपरा का विकास किया है।

द्विवेदी जी ने कबीर के अक्खड- फक्कड व्यक्तित्व की विलक्षणता का समग्र निरूपण 'कबीर' में किया। नामवर जी रेखांकित करते हैं कि इस कोटि में आधुनिक कबीर के रूप में द्विवेदी जी ने प्रेमचंद को मान्यता दी थी। द्विवेदी जी ने निष्कर्ष स्वरूप कबीर को "सिर से पैर तक मस्तमौला; स्वभाव से फक्कड, आदत से अक्खड; भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचंड; दिल के साफ, दिमाग के दुरस्त; भीतर से कोमल, बाहर से कठोर; जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वन्दनीय।"[37] प्रेमचंद के लिये भी द्विवेदी द्वारा प्रयुक्त समान शब्दावली को नामवर जी उद्धृत करते हैं, "ऐसे थे प्रेमचंद- जिन्होंने ढोंग को कभी बर्दाश्त नहीं किया, जिन्होंने समाज को सुधारने की बडी बडी बातें सुझायी ही नहीं, स्वयं उन्हें व्यवहार में लाये, जो मनसावाचा एक थे, जिनका विनय आत्माभिमान का, संकोच महत्व का, निर्धनता निर्भीकता का, एकान्त प्रियता

---

36. डॉ. नामवर सिंह : दूसरी परंपरा की खोज, पृ.20
37. वही, पृ.47 से उद्धृत

विश्वानुभूति का और निरीह भाव कठोर कर्तव्य का कवच था।"[38] स्पष्ट है कि कबीर और प्रेमचंद को जोडनेवाला तत्व ही नामवर जी के अनुसार 'दूसरी परंपरा' का अंत:सूत्र है।

आचार्य शुक्ल, प्रोफेसर हेवेल आदि साहित्य के इतिहासकारों का मत था कि वीरगाथा-कालीन तथा भक्ति-कालीन साहित्य मुसलमानों और हिन्दुओं के संघर्ष का परिणाम था। इस संप्रदायवादी इतिहास दृष्टि का विरोध करने के कारण नामवर जी इसे हिन्दी का ऐतिहासिक दस्तावेज मानते हैं।

लोकधर्म या लोकोन्मुखता- द्विवेदी जी भक्ति आंदोलन की पूर्वपीठिका 'लोकधर्म' को मानते हैं। 'लोकधर्म' संबंधी द्विवेदी जी की अवधारणा को स्पष्ट करते हुये नामवर जी कहते हैं कि वस्तुत: वह सामान्य जन में प्रचलित नाना विश्वासों का समूह है। उसकी शक्ति पर प्रकाश डालते हुये वे कहते हैं- "परिस्थितिवश शासक वर्ग की विचारधारा के प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त रहने के कारण 'लोकधर्म' शास्त्र से हीन प्रतीत होते हुये भी उसका विकल्प बनकर उपस्थित होता है और यही उसकी शक्ति है। लोकधर्म का प्राण उसका विद्रोह है। इसलिये दमनकारी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह के रूप में खडे होनेवाले प्रत्येक जनान्दोलन की शक्ति और सीमा को समझने के लिये उसके द्वारा मान्य ऐसे 'लोकधर्म' का अध्ययन आवश्यक है।"[39] लोकधर्म की प्रकृति की सही पहचान के कारण द्विवेदी जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भक्ति आन्दोलन विराट जन-आंदोलन था।

---

38. डॉ. नामवर सिंह : दूसरी परंपरा की खोज, पृ.49 से उद्धृत
39. वही,पृ.80

द्विवेदी जी के साहित्यिक मानदण्ड 'मनुष्य' से ही बनते हैं। सामान्य मनुष्य की उनकी परिकल्पना भी एक भिन्न धारणा को जन्म देती है। उसके प्रतीक हैं 'कबीर'। वे जाति धर्म निरपेक्ष हैं। साहित्य का लक्ष्य ऐसा ही मनुष्य होना चाहिये। शुक्ल जी की परंपरा से विचलन करते हुये द्विवेदी जी ने उस कबीर को अपनाया जो आध्यात्मिक जडता, समाजिक विषमताओं और साहित्यिक मान्यताओं को ध्वस्त करना चाहते थे। उनकी इसी चिन्तन धारा की व्याख्या नामवर जी ने अपने काव्यगुणी आलोचक संस्कार और अध्ययन के आधार पर की और उन्हें हिन्दी का सर्वाधिक सर्जनात्मक आलोचक सिद्ध किया। हिन्दी साहित्य की इस प्रगतिशील परंपरा का स्वरूप हिन्दी जगत के सम्मुख विवृत करने में उनका आलोचनादर्श कामयाब सिद्ध होता है। यह यथास्थिति के खिलाफ की परंपरा है। नामवर सिंह जी ने इस परंपरा की शुरुआत नाथों की वाणी से निर्धारित की है।

समकालीन साहित्यिक और सांस्कृतिक परिदृश्य की पडताल

'वाद-विवाद-संवाद'

समकालीन साहित्य, भाषा औरआलोचना कर्म की बुनियादी चिंताओं पर संवाद करते हुए नामवर जी के लेख हमारे साहित्यिक संस्कारों को सार्थक और प्रासंगिक बनाते हैं।

'संस्कृति' और 'आलोचना' की परस्पर संबद्धता की चर्चा करते हुये नामवर जी 'संस्कृतिवाद' और 'रूपवाद' को आमने-सामने रखते हैं । एक ओर संस्कृति का भोगवादी रूप है, तो दूसरी ओर आस्वादधर्मी स्वायत्त आलोचना। दोनों ही के मूल में

द्वन्द्वों से बचते हुये 'सर्वस्वीकृतिवाद' की प्रवृत्ति है। नामवर जी सिद्ध करते हैं कि आलोचना कर्म कोई निरपेक्ष कर्म नहीं है अपितु हमारी समूची जीवन पद्धति और चिंतन प्रक्रिया का प्रतिरूप है। 'एकालाप और संवाद' में अज्ञेय के 'आत्मनेपद' और मुक्तिबोध की 'साहित्यिक की डायरी' की तुलना करते हुये निकाले गये निष्कर्ष इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। "आत्मनेपद अमानुषिकता की हद को छूनेवाली कलात्मक नि:संगता को स्थापित करती है तो डायरी यह स्थापित करती है कि कविता अलग से किसी साधना की चीज नहीं बल्कि जीने की जटिल क्रिया का ही एक अंग है।"[40] अज्ञेय और मुक्तिबोध की विचार प्रणालियों का अंतर दो संस्कृतियों, जीवन पद्धतियों और दो चिंतन प्रक्रियाओं के अंतर को स्पष्ट करता है।

आलोचना के क्षेत्र में साहित्यिक आलोचना के समानांतर निर्मित पत्रकारी व्यावसायिक आलोचना पर नामवर जी प्रहार करते हैं और इसे एक 'सांस्कृतिक संकट' का प्रतिरूप मानते हैं। उनकी एक महत्त्वपूर्ण स्थापना यह है कि आलोचक, लेखक और पाठक के बीच मध्यस्थ, एजेण्ट या भाष्यकार नहीं वरन् वह भी एक सर्जक है। "प्रत्येक कृति एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है और कृतिकार पाठक और आलोचक एक ही प्रक्रिया के अंग है, जिनमें से प्रत्येक की प्रतिक्रिया उस प्रक्रिया की अनिवार्य कडी है। इस प्रकार आलोचक, कवि या पाठक के लिये नहीं लिखता। किसी कृति पर लिखना उसका ऐतिहासिक दायित्व है। प्रसंगवश उससे कवि या पाठक प्रभावित भले ही हो जायें, लेकिन उस एक संस्कृतिक प्रक्रिया में अपनी भूमिका अदा करने के लिये प्रथमत: वह रचनाकार के समान ही अपने लिये लिखता है।"[41] स्पष्ट है कि आलोचना की

---

40. डॉ. नामवर सिंह : वाद-विवाद-संवाद, पृ.15
41. वही, पृ.22

भाषा का संकट आलोचक द्वारा अपने ही विचारों और अनुभवों को सुस्पष्ट और व्यवस्थित करने का संघर्ष है। ऐसा संघर्षरत आलोचक कविता और समाज का अंत:संबंध स्पष्ट करते हुये अपने समय के साहित्यकारों का दिशा निर्देश करता है। इसी विशेषता के कारण नामवर जी समकालीन साहित्य के क्षेत्र में श्रेष्ठतम सर्जक-आलोचक सिद्ध हुये हैं।

निष्कर्ष

प्रगतिशील हिन्दी आलोचकों में नामवर जी की विशिष्ट पहचान यांत्रिक या कट्टर मार्क्सवादी विचारधारा के कारण नहीं बल्कि उनकी आलोचकीय संवेदना के कारण है। उनकी 'आलोचक प्रतिभा के विकास' का परिचय देते हुये दूसरे अध्याय में कहा जा चुका है कि नामवर जी की साहित्यिक यात्रा का आरंभ कवि के रूप में हुआ। हिन्दी के रचना जगत में फैली अराजकता ने ही उन्हें आलोचक बना दिया। कवि के रूप में उनकी जो संवेदनायें थी, उन्होंने उन्हें आलोचक के रूप में बरकरार रखा। उनकी मूल आस्था रचना में है। वे पहले आस्वादक है, मार्क्सवादी आलोचक बाद में। मुहम्मद कमाल के शब्दों में, "साहित्य के जिन तकाजों को लेकर वे मार्क्सवाद में आये, वहाँ उस संवेदना को विकसित और समृद्ध होने का पर्याप्त अवकाश है। संवेदना की यही नायाब पूँजी लेकर वे आलोचना के कठिन मोर्चों पर आ डटे और देखते ही देखते समकालीन बहस चर्चा, वाद-विवाद और समीक्षा के दुर्धर्ष नायक हो गये।"[42]

'छायावाद' सर्जनात्मक आलोचना का बेजोड नमूना है। इसमें उस काव्यधारा में निहित सामाजिक सत्य का उद्‌घाटन तो है ही, रूप और वस्तु की द्वन्द्वात्मक

---

42. सं. कमला प्रसाद : नामवर सिंह- आलोचना की दूसरी परंपरा, पृ.363

एकता का आदर्श भी प्रतिपादित किया गया है। 'कविता के नए प्रतिमान' उनकी प्रगतिशील आलोचना का एक और कीर्तिमान है। इसमें वे छायावादी संस्कार और प्रगतिवादी काव्य की स्थूल समाजशास्त्रीयता से संघर्षरत है। अपने मूल्यांकन में वे छायावाद से लेकर नयी कविता और अकविता के दौर तक की रचनाओं को संदर्भित करते हैं। नामवर जी अपनी कही हुई हर बात के लिये कम से कम एक काव्य प्रमाण देते हैं। कविता की तीक्ष्ण व्यवहारिक आलोचना से ही वे अपने निष्कर्ष निकालते हैं। इसमें बने बनाये प्रतिमान नहीं मिलते, उन्हें कमाने का संघर्ष दिखाई देता है जो काव्य प्रेमियों के लिये दिशानिर्देश है। अरुण कमल लिखते हैं- "डॉ. नामवर सिंह की आलोचना ऐसी ही पद्धति है जो सभ्यता और समाज की समीक्षा होने पर भी अंतत: साहित्य के बारे में है, रचना की अच्छाई-बुराई के बारे में। इसलिये डॉ. नामवर सिंह के निष्कर्ष, रचना के निष्कर्ष हैं। हर तरफ से आकर रोशनी अंतत: रचना पर केन्द्रित हो जाती है। अंतत: साहित्य के सवाल ही केन्द्र में होते हैं। ज्ञान का आतशी शीशा सूर्य की शक्ति को एक बिंदु पर केंद्रित कर देता है।"[43]

आलोचक नामवर सिंह की शक्ति उनके अर्थ-विश्लेषण की क्षमता में है। कविता की तो प्रकृति ही ऐसी होती है कि उसकी शब्दाकृति में अर्थ की संभावनाएँ गुँथी रहती हैं। नामवर जी बहुत बारीकी से काव्यार्थ में पैठ करते हैं और लक्ष्यार्थ, ध्वन्यार्थ की अंतिम संभावना तक का स्पर्श करते हैं।

'इतिहास और आलोचना' में नामवर जी ने साहित्य के इतिहास तथा आलोचना को वस्तुनिष्ठ तरीके से देखने का प्रयास किया है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के

---

43. सं. भरत यायावर : आलोचना के रचना पुरुष, पृ.68

परिप्रेक्ष्य में साहित्य की प्रणाली को सर्वथा दृष्टिकोण रहित देखने के वे विरोधी हैं। तटस्थ दृष्टि का वे खंडन करते हैं। विरोधी धाराओं के प्रवाह से घबराकर तटस्थ दृष्टि अपनानेवाला आलोचक अनायास ही प्रवाह पतित होकर इतिहास विरोधी धारा में शामिल हो जाता है। उनके अनुसार साहित्यिक प्रतिमानों का संरक्षक वही हो सकता है जिसमें परंपरा का जीवित बोध है और जो परिवर्तनशील वर्तमान के प्रति सतत जागरूक है। इसी समझ को वे 'संश्लिष्ट समसामयिक बोध' कहते हैं।

नामवर जी की लोकोन्मुखता उनकी काव्यालोचना का महत्वपूर्ण तत्व है। वे लोक-जीवन को ऐसी शक्ति मानते हैं जो सामाजिक गतिरोध के साथ ही साहित्यिक गतिरोध को भी समाप्त करती है। वे शिष्ट सहित्य के बरअक्स लोकवादी साहित्य को रखते हैं और उसे साहित्य की दूसरी परंपरा कहते हैं। उनकी 'लोक चेतना' के स्रोत उनके गुरु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ही हैं। इसका खुलासा उनकी पुस्तक 'दूसरी परंपरा की खोज' से होता है। नामवर जी मानते हैं कि शुक्ल जी का लोकधर्म वर्णाश्रम धर्म है। वर्णाश्रम धर्म के प्रति अश्रद्धा जगानेवाले निर्गुण पंथी कवियों की जैसी भर्त्सना शुक्ल जी ने की है, उससे उनका यह दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। 'लोकधर्म' के प्रति द्विवेदी जी के दृष्टिकोण के संबंध में नामवर जी की टिप्पणी है- "जनसाधारण के जीवन में नाना विश्वासों के रूप में जीवित इस तथाकथित 'लोकधर्म' का महत्व इस बात में है कि जनता के असंतोष को विद्रोह का रूप देने के लिए वैचारिक और भावात्मक शक्ति की भूमिका यही अदा करता है। द्विवेदी जी के साहित्य में भक्ति आंदोलन की पूर्वपीठिका के रूप में लोकधर्म की विस्तृत चर्चा का यही कारण है कि वे लोकधर्म को ही भक्ति आंदोलन की जन्म भूमि मानते हैं। जब वे कहते हैं 'कबीर की वाणी वह लता है

जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पडने से अंकुरित हुई थी' तो संकेत यही है कि योग के रूप में 'क्षेत्र' की भूमिका अदा करता है।''[44] दूसरी परंपरा की खोज भारत की लोकधर्मी परंपरा की ही खोज है जिसके स्फुलिंग वैदिक काल से लेकर आधुनिक युग तक दर्शनीय हैं। 'लोक' नामवर जी के लिये साहित्य का सबसे सुसंगत और विकसित प्रतिमान है।

नामवर जी कविता के लिये अबेध्य प्रतिमानों को स्वीकार नहीं करते क्योंकि उनसे हमारी जडीभूत सौंदर्याभिरुचि प्रकट होती है। जीवन परिवर्तनशील है अत: उस पर आधारित साहित्य भी परिवर्तनशील है। फलत: तदनुरूप प्रतिमान भी परिवर्तनशील होने चाहिये। डॉ. नामवर सिंह की आलोचना की मूल प्रतिज्ञा, जीवन और उसके समानान्तर काव्य और काव्य मूल्यों की सतत परिवर्तनशीलता को उद्घाटित करना है।

---

44. डॉ. नामवर सिंह : दूसरी परंपरा की खोज, पृ.48

अध्याय - चार

कथालोचना की नयी परंपरा और नामवर सिंह

कथालोचना की नयी परंपरा और नामवर सिंह

- हिन्दी कथालोचना का आरंभिक दौर और नामवर सिंह की कहानी समीक्षा
- कहानी में नवीनता
- नयी कहानी : ऐतिहासिक नवीनता एवं उपलब्धियाँ
- नयी कहानी : संप्रेषणीयता और प्रभावान्विति
- भावुकता का विरोध
- पाठक वर्ग और रसास्वादन का विस्तृत परिदृश्य
- कथालोचना और पाठ प्रक्रिया
- चुनी हुई कहानियों का पाठ विश्लेषण
- कथालोचना से विमुखता
- निष्कर्ष

कथालोचना की नई परंपरा और नामवर सिंह

हिन्दी कथालोचना का आरंभिक दौर और नामवर सिंह की कहानी समीक्षा

हिन्दी कहानी के उद्‌भव के लगभग अर्धशताब्दी बाद ही कथालोचना का आरंभिक दौर देखा जा सकता है। इसके पूर्व आलोचना विधा कविता पर ही केन्द्रित रही। कहानी लेखन और आलोचना दोनों ही क्षेत्रों में छठे दशक को सर्जनात्मक उभार का दौर कहा जा सकता है। नई कहानी आन्दोलन के इस काल-खण्ड में ही कहानी के विधिवत् विश्लेषण और मूल्यांकन की कोशिश आरंभ की गई। इस दिशा में एक गंभीर शुरुवात के रूप में श्री जगन्नाथ प्रसाद शर्मा की 'कहानी का रचना विधान' नामक पुस्तक विशेष उल्लेखनीय है। इसका प्रकाशन सन् 1956 में हुआ। इसमें तीन महत्वपूर्ण कहानियों- 'गैंग्रीन', 'आकाशदीप' और 'ईदगाह' का शास्त्रीय दृष्टि से पाठ-विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इस पुस्तक की सीमाओं की ओर मधुरेश इस प्रकार संकेत करते हैं- "कहानी के पाठ विश्लेषण की शुरुआत जगन्नाथ प्रसाद शर्मा की पुस्तक 'कहानी का रचना विधान' से हुई जो शास्त्रीय दृष्टि से कहानी के विश्लेषण में प्रवृत्त होकर भी एक गंभीर शुरुआत के रूप में उल्लेखनीय है। . . . . लेकिन अपने ऐतिहासिक महत्व के बावजूद उसकी सब से बडी सीमा यह है कि वह कहानी को बने बनाये शास्त्रीय तत्वों में निचोड लेने से आगे नहीं बढ सका।"[1]

नई कहानी आंदोलन के दौरान कहानी लेखन और समीक्षा को प्रोत्साहित करने में 'कहानी' पत्रिका ने सार्थक भूमिका निभाई। सरस्वती प्रेस से 1955 ई. में प्रकाशित

---

1. सं. भरत यायावर : नामवर सिंह- आलोचना के रचना पुरुष, पृ.187

इस पत्रिका के संपादक श्री भैरव प्रसाद गुप्त थे। गुप्त जी के विषय में निर्मला जैन का कथन है- "इसके (कहानी पत्रिका) संपादक भले ही बहुत सफल कहानीकार न रहे हों पर उन्होंने एक अत्यंत सफल संपादक के रूप में इस काल के सर्जनात्मक उभार को एकजुट करने में योग दिया।"[2] 'कहानी' पत्रिका के नव वर्षांक में 'आज की हिन्दी कहानी' नामक लेख के माध्यम से डॉ. नामवर सिंह ने पहले-पहल कहानी से जुडे कुछ बुनियादी सवाल उठाये। यहीं से उनकी कहानी समीक्षा की एक दशक की यात्रा आरंभ हुई।

1957 ई. से 1960 ई. तक 'कहानी' के नव वर्षांकों में नामवर जी के लेख छपे। 1960 ई. में राजकमल से भैरवप्रसाद गुप्त के संपादकत्व में 'नई कहानी' पत्रिका का प्रकाशन आरंभ हुआ। इस पत्रिका के 'हाशिये पर' स्तंभ में वे जनवरी 1960 से दिसम्बर 1962 तक लिखते रहे। 'माया' मासिक पत्रिका के 1965 नववर्षांक में उनका कहानी संबंधी लेख प्रकाशित हुआ। उपर्युक्त सभी लेखों का संग्रह है पुस्तक 'कहानी : नई कहानी'।

नामवर जी के शिष्य डॉ. रामबक्ष 'कहानी : नई कहानी' के विषय में कहते हैं- "राजनीतिक उथल-पुथल और निजी जीवन के कई उलट फेर के बीच लिखे गये ये निबन्ध 'दस्तावेज' के समान मूल्यवान तो हैं ही, चिन्तन की ताजगी और सजीवता के कारण 'स्मारक' का सौंदर्य लिये हुये हैं।"[3] पुस्तक की भूमिका में नामवर जी अपने लेखों को 'कथा समीक्षा की एक पद्धति निकालने की कोशिश' कहते हैं।

---

2. निर्मला जैन : हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी, पृ.94
3. डॉ. रामबक्ष : समकालीन हिन्दी आलोचना और आलोचक, पृ.175

उनकी उपयोगिता वे इस बात में मानते हैं कि 'वे पाठकों को याद दिलायेंगे कि अनेक स्वीकृत मान्यताओं के पीछे एक संघर्ष हैं।' उन्हें दु:ख है कि 'ज्यादातर लेखकों ने विरोध के द्वारा ही सहयोग किया', साथ ही संतोष भी है कि 'इस चर्चा के फलस्वरूप कुछ महत्वपूर्ण कहानियाँ सामने आई जिनका महत्व आज भी असंदिग्ध है।'

डॉ. नामवर सिंह ने अपने लेखों के माध्यम से कहानी समीक्षा की एक सार्थक शुरुवात की थी। कथालोचना को उन्होंने एक व्यवस्थित रूप प्रदान किया। वस्तुत: कथा-लेखन के क्षेत्र में इसी दशक में मोहन राकेश, मार्कण्डेय, कृष्णा सोबती, अमरकांत, फणीश्वर नाथ 'रेणु' आदि अनेक नाम उभरकर आये। ये कथाकार, प्रेमचंद के वस्तुगत यथार्थ और अज्ञेय की अंतर्निष्ठ वैयक्तिकता के बीच मध्यम मार्ग खोज रहे थे। नामवर जी ने इसी नई कथा धारा की समीक्षा केलिये तत्कालीन मानदण्डों की अपर्याप्तता को महसूस किया। सामयिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये लिखे उनके लेखों के केन्द्र में 'नई कहानी' और उसके अनुरूप नये आलोचकीय मानदण्ड ही है।

नामवर जी के कहानी संबंधी लेखों का प्रकाशन काल उनके व्यक्तिगत जीवन का अत्यंत मुश्किल दौर था। वे बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक के अस्थायी पद पर नियुक्त थे, जहाँ हजारीप्रसाद द्विवेदी जी विभागाध्यक्ष थे। 1959 में चकिया-चंन्दौली के लोकसभा उपचुनाव में वे कम्यूनिस्ट पार्टी के उम्मीदवार बने। उपचुनाव लडने के कारण विश्वविद्यालय की नौकरी से निष्कासित कर दिये गये। चुनाव में भी उनकी हार हुई। इन वर्षों में उन्होंने मार्क्सवादी साहित्य का गंभीर अध्ययन किया। प्रगतिशील लेखक संघ से सक्रिय रूप से जुडे। व्यक्तिगत जीवन की समस्याओं के बावजूद वे लेखन की ओर सक्रिय रूप से उन्मुख रहे। 'गरबीली गरीबी वह' नामक

लेख में काशीनाथ सिंह अपने भाई की इस विशेषता के बारे में लिखते हैं- "मुझे याद नहीं कि विश्वविद्यलय से निष्कासन की सूचना उन्हें चुनाव के दौरान मिली या बाद में। बहरहाल, वे हारने के बाद पार्टी आफिस से घर आये थे- थके माँदे। मैंने आज तक ऐसे किसी आदमी की कल्पना नहीं की थी जिसके सारे दु:खों, सारी परेशानियों, पराजयों, तिरस्कारों और अपमानों का विकल्प अध्ययन हो। चुनाव हारने और अच्छी खासी नौकरी जाने का सियापा घर में हो और वह आदमी खर्राटे ले रहा हो या कमरा बन्द करके किसी लेख की तैयारी कर रहा हो या पढी गई किताब से नोट्स ले रहा हो।"[4] जीवन की ऐसी विषम परिस्थितियों के बीच वे जड आलोचना सिद्धांतों के विरुद्ध पाठकों और लेखकों को आगाह करते रहे। कहानियों के व्यावहारिक विश्लेषण द्वारा कहानी-लेखन और आलोचना, दोनों की दिशा मोडने में उन्होंने सार्थक भूमिका निभाई।

कहानी में नवीनता

'नई कहानी' संज्ञा को स्वीकृति 'नई कविता' की अपेक्षा देर से मिली। नामवर जी इसके कारणों की छानबीन करते हैं। 'नया' विशेषण आसानी से तभी स्वीकृत हो सकता है जब उसकी नवीनता के लक्षण स्पष्ट होते हैं। सामान्यतया रूप और शिल्प की नवीनता लोगों का ध्यान सबसे पहले आकर्षित करती है। यह नवीनता कविता की अपेक्षा कहानी में कम है क्योंकि कहानी नवीन विधा है जबकि कविता का शताब्दियों पुराना इतिहास है। कालानुसार काव्य रूपों में काफी परिवर्तन आया है।

---

4. सं. सुधीश पचौरी : नामवर के विमर्श, पृ.37

गद्यात्मकता के कारण कहानी में आनेवाला परिवर्तन कविता जितना स्पष्ट नहीं होता। शिल्प की दृष्टि से वस्तुत: कहानी में अनेक प्रयोग हुये हैं। उसके आंतरिक रूप में भी बदलाव आया है। कथानक संबंधी धारणा भी आज भिन्न है। जीवन का कोई लघु प्रसंग, मूड या विचार या विशिष्ट व्यक्ति चरित्र कथानक बन गया है। इन छोटी नगण्य बातों में कथानक की क्षमता को आज के लेखक पहचानते हैं। उतार-चढावहीन सपाट कथानकों की स्वीकृति, वास्तव में कहानी में यथार्थवाद की विजय के पहले लक्षण हैं। नामवर जी कहानी के तत्कालीन आलोचकीय मानदण्डों के प्रति निराशा प्रकट करते हैं। वे मानते हैं कि कहानी का यह दुर्भाग्य है कि वह मनोरंजन के रूप में पढी जाती है और शिल्प के रूप में आलोचित की जाती है। तत्कालीन आलोचना पद्धति के अंतर्गत कहानी को कथानक, चरित्र, वातावरण, कथोपकथन, भाषा-शैली, भावनात्मक प्रभाव आदि अवयवों में बाँटकर देखा जाता था। फलत: कहानी एक इकाई के रूप में नहीं परखी गई। नामवर जी कहानी की जिस जीवनी शक्ति को कहानीपन कहते हैं, उसकी समझ ऐसे आलोचकों को नहीं होती। इस कहानीपन की व्याख्या वे इस प्रकार करते हैं- "कविता में जो स्थान लय का है, कहानी में वही स्थान कहानीपन का है। कविता चाहे जिस हद तक छंदमुक्त हो जाये, वह लयमुक्त नहीं हो सकती। कहानीपन से रहित गद्य रचनाओं के बारे में यही बात लागू होती है। लय की तरह कहानी कहना मनुष्य की बहुत पुरानी वृत्ति है और इसकी रक्षा अपने आप में भी एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक कार्य है और इतिहास से प्रमाणित होता है कि नीति, लोक व्यवहार, धर्म, राजनीति आदि विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति केलिये इस कला का उपयोग करते हुये भी मानव जाती ने इसकी रक्षा की है।"[5] 'वसुधा' के 'नामवर सिंह' पर केंद्रित अंक में भी

---

5. नामवर सिंह : कहानी : नई कहानी, पृ.23

अरुण प्रकाश के साथ साक्षात्कार में वे इसी तथ्य को दोहराते हैं- "सही उठान अगर ले कहानी, तो चाहे वह पचास पेज की हो, चाहे वह दो पेज की हो और उस उठान को वह अंत तक ले जायें। निर्वाह करना जिसको कहते हैं।"[6] कहानीपन की सफलता उसकी सार्थकता में है। सार्थकता का एक अर्थ है- सोद्देश्यता अथवा जीवन की छोटी से छोटी घटना को अर्थ प्रदान करना। नामवर जी के शब्दों में- "दर्द से छटपटाते हुये जिस व्यक्ति अथवा समाज को यह पता न हो कि दर्द कहाँ है और क्या है उसके लिये उसकी दु:खती रग पर हाथ रख देना ही बहुत बडी बात है।"[7]

नई कहानी : ऐतिहासिक नवीनता एवं उपलब्धियाँ

नामवर सिंह अच्छी कहानियों को कहानी विधा की उपलब्धी मानते हैं। सामाजिक और साहित्यिक विकास के संदर्भ में कहानियों के मूल्यांकन से ही इन अच्छी कहानियों की पहचान हो सकती है। किसी भी अच्छी कहानी का सब से महत्वपूर्ण तत्व 'ऐतिहासिक नवीनता' है। नई कहानी में जीवन की सीधी आलोचना ही नहीं वरन् जीवन के अधिक से अधिक संवेदनशील पहलुओं का चित्र भी मिलता है। इसलिए कथाकारों ने कार्य-कारणबद्ध कथानकों को छोडकर उनके बीच से जीवन खण्ड के अन्य अनुभूति तत्वों को उभारा है। नामवर सिंह लिखते हैं- "चित्रकला में नवीन प्रवृत्तियों का प्रवर्तन करने वाले पिकासो जैसे चित्रकारों ने जिस प्रकार परम्परागत रूप को खण्डित करके नये नये अनुक्रमों द्वारा जीवन वास्तव के विविध आयामों को चित्रित किया उसी प्रकार संभवत: आज की हिन्दी कहानी में भी यह कार्य कहीं कहीं चल

---

6. सं. कमला प्रसाद : नामवर सिंह- आलोचना की दूसरी परंपरा, पृ.105
7. नामवर सिंह : कहानी : नई कहानी, पृ.24

रहा है। रेणु और मार्कण्डेय ने इस कला के द्वारा यदि ग्राम जीवन के कुछ मार्मिक पक्ष उभारे हैं तो निर्मल वर्मा और राजेन्द्र यादव ने भी जीवन के अन्य क्षेत्रों के अलक्षित पहलु दिखलाये हैं। इसी को कुछ लोगों ने यथार्थ को विकृत करना कहा है। वस्तुत: यह दूसरे स्तर पर यथार्थ के जटिलतर रूप की उपलब्धी है।''[8]

आज की हिन्दी कहानियों की उपलब्धि के संदर्भ में प्राय: यह कहा जाता है कि वह पहले से कहीं ज्यादा संवेदनापूर्ण और नाना अनुभूतियों से भरी है। नामवर जी का विचार है कि इसका तात्पर्य यह है कि उनमें नवीन सामाजिक संघर्षों का चित्रण है। यह संघर्ष चाहे नैतिक, आर्थिक, राजनीतिक अथवा पारिवारिक हो, आज की परिस्थिति का ही संघर्ष है। 'ऐतिहासिक नवीनता' का स्पष्टीकरण देते हुए वे उन कारणों को प्रस्तुत करते हैं जिनकी वजह से बहुत कम कहानियों को 'उपलब्धि' की कोटी में रखा जा सकता है- ''विचारणीय बात यह है कि आज के कहानीकारों ने अपनी पीढी के व्यक्तियों का चित्रण किस रूप में और किस हद तक किया है! कहानीकारों के व्यक्तित्व, सामाजिक स्थिति, पारिवारिक संस्कार, जीवन दृष्टि तथा अनुभव सीमा के भेद से उनकी कहानियों के युवक चरित्र भी भिन्न भिन्न प्रकार के हैं। जागरूक कहानीकार बहुत कम है जिनके युवक चरित्र अपने वर्तमान को व्यापक स्तर पर गहराई से अनुभव करते और समझते हुए भविष्य का पथ प्रशस्त करने में संलग्न हो। फलस्वरूप ऐसी कहानियाँ भी बहुत कम है जिनमें संभावित भविष्य के आलोक में नई पीढी के व्यक्तियों का चित्रण मिले।''[9]

---

8. नामवर सिंह : कहानी : नई कहानी, पृ.46
9. वही, पृ.49

नई कहानी : संप्रेषणीयता का सवाल और प्रभावान्विति

पूर्ववर्ती कहानियों से भिन्न नई कहानी के साथ संप्रेषणीयता का सवाल उठाया गया है। कहानी संबंधी मूल अवधारणा यह है कि वह कहने-सुनने की वस्तु है। इससे आगे बढकर वह लिखने-पढने की अवस्था तक पहुँची और वहाँ से भी आगे वह समझने-समझाने के दौर से गुजर रही है। दर्शन और कहानी के समान वह भी सांकेतिक हो रही है। नामवर जी की मन्यता है कि सांकेतिकता का सहारा हर पीढी के लेखकों ने लिया है। प्रेमचंद, जैनेन्द्र, यशपाल आदि की कहानियाँ भी सांकेतिक थी। अंतर केवल उसकी मात्रा में है। 'प्रभावान्विति' कहानी में उतनी पुरानी है जितनी स्वयं आधुनिक कहानी। किंतु प्रभाव की संपूर्ण अन्विति को सांकेतिक बनाने का श्रेय एकदम नई कहानी को है। नई कहानी संकेत करती नहीं स्वयं संकेत है।"[10] इस प्रभावान्विति की चर्चा एवं उसका स्पष्टीकरण नामवर जी बाद के लेखों और भाषणों में भी करते हैं। वे मानते हैं कि उदय प्रकाश की कहानी 'वारेन हेस्टिंग्स का सांड' का कमजोर पक्ष यही है कि लेखक ने इतिहास की, कला की और अन्य सारी जानकारियों को भरकर प्रसंगों को इतना विस्तृत कर दिया है कि प्रभावान्विती नहीं रही। 'एडगर एलन पो' के सिद्धांत का समर्थन करते हुये वे कहते हैं- "टोटेलिटी ऑफ इफेक्ट या इफेक्ट ऑफ टोटेलिटी, प्रभावान्विति है। इस प्रभावान्विति पर कहानी टिकी होती है। उसमें जरूरी है यह पहचान कि कौन सी चीज है जो प्रभावान्विति को बेसुरा बनाती है। संगीत में जो कहा जाता है कि आप सुर में जरूर गा रहे हैं लेकिन बेसुरापन है। इस प्रकार की अनावश्यक चीजों को छोड दें।"[11]

---

10. नामवर सिंह : कहानी : नई कहानी, पृ.33
11. सं. कमला प्रसाद : नामवर सिंह- आलोचना की दूसरी परंपरा, पृ.54

नई कहानी की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि नये कहानीकारों ने चरित्र के स्थान पर वातावरण पर अधिक ध्यान केंद्रित किया है। पूर्ववर्ती कहानियों में वातावरण यदि अलंकरण था तो नई कहानियों में वह अंत:करण है, जिसके निर्माण में बिंब विधान की भूमिका महत्वपूर्ण है। नामवर जी के शब्दों में "नये बिंब वस्तुत: नए कहानीकारों के विकसित ऐंद्रीय बोध के सूचक हैं और जो कहानीकार जितना संवेदनशील है, उसकी कहानी का वातावरण उतना ही मार्मिक है।"[12]

नई वास्तविकता के अनुकूल संवेदनशील सजीव भाषा की आवश्यकता पर जोर देते हुए भी नामवर जी मानते हैं कि नई कहानी की भाषा को परंपरा से अनुशासित होना पडेगा। उसे अनावश्यक काव्यात्मकता के लदाव से बचते हुए गद्य की शक्ति का परिचय देना है। महज पाठक को चौंकाने या चमत्कृत करने के उद्देश्य से लिखी जाने वाली कहानी को इस युग में प्रोत्साहन नहीं मिल सकता। नामवर जी के शब्दों में "जो कहानीकार समूचे आदमी को उठाने की जगह केवल उसकी भौंहें उठाकर रह जाये, उसके लिये भौंहें ही उठ सकती हैं।"[13]

नामवर जी अपनी पुस्तक में, कहानीकार के रूप में निर्मल वर्मा की सर्वाधिक तारीफ करते हैं। आदर्श के रूप में उनकी चर्चा अनेक स्थलों पर की गई है। इसके लिये परवर्ती आलोचकों ने उनकी आलोचना भी की है। नामवर जी की दृष्टि में निर्मल जी प्रथम कथाकार है जिन्होंने कथा साहित्य को सामाजिक संघर्ष के स्थूल धरातल से निकालकर उसमें मनुष्य की आंतरिक समस्या को उठाया है। जाने पहचाने चरित्रों और

---

12. नामवर सिंह : कहानी : नई कहानी, पृ. 34
13. वही, पृ.39

जीवन संदर्भों को उन्होंने असाधारण गरिमा प्रदान की है। ये चरित्र इतने विराट हो जाते हैं कि उनके साधारण संवाद युगव्यापी प्रश्न बन जाते हैं। निर्मल जी की कहानियों का कथ्य मानव मुक्ति का सवाल तो कई कोणों से उठाता ही है, ये कहानियाँ खुद भी अपने आपको फार्मूलों से मुक्त रखती हैं। 'नई कहानी' के क्षेत्र में नामवर जी उनका स्थान इस प्रकार निर्धारित करते हैं- "अभी तक जो कहानी कथा कहती थी या कोई चरित्र पेश करती थी अथवा एक विचार या झटका देती थी, वही निर्मल के हाथों जीवन के प्रति एक नया भावबोध उत्पन्न करती है। साथ ही ऐसे दुर्लभ अनुभूति चित्र प्रदान करती है जितना हम कम से कम हिन्दी के माध्यम से प्राप्त करने के अभ्यस्त नहीं है।"[14] निर्मल वर्मा की कहानियों का प्रभाव कुछ इतना गहरा है कि पठनोपरांत चरित्र और घटनायें अलग-अलग याद नहीं रहती। चरित्र, वातावरण और कथानक का कलात्मक रचाव, उन्हें उत्कृष्ट कहानीपन की मिसाल बनाती हैं। प्रभावान्विति की दृष्टि से कला की पराकाष्ठा संगीत है। निर्मल की रचनाओं में संगीत का चित्रण आकस्मिक नहीं है। नामवर जी के अनुसार- "निर्मल ने संगीत का चित्रण केवल वातावरण चित्रण के लिये नहीं किया है बल्कि संगीत के उस रागधर्म को भी व्यक्त किया है जिसके द्वारा विविध वस्तुयें पिघलकर अपनी पृथक सत्ता खोती हुई एक भावधारा में बदल जाती हैं।"[15] 'परिंदे' कहानी संग्रह से स्पष्ट है कि निर्मल वर्मा स्थूल यथार्थ की सीमा का, तत्कालिक वर्तमान का और प्रचलित कहानी कला के दायरे का अतिक्रमण करने की क्षमता रखते हैं और इसीलिये वे नामवर जी के सबसे प्रिय कहानीकार हैं। आगे चलकर निर्मल जी की कहानी-कला का विकास कलावाद के प्रति खिंचाव के कारण संतोषजनक नहीं

---

14. नामवर सिंह : कहानी : नई कहानी, पृ.54
15. वही, पृ.55

रहा। 'परिंदे' के अद्वितीय महत्व के बावजूद नामवर जी ने कहानीकार निर्मल वर्मा की सीमाओं को स्वीकार किया। "आपकी बात सही है कि वह खुद को इस बुरी तरह दोहरा रहे हैं कि उनकी भाषा और शिल्प का जादू अब उतार पर है . . . वह एक खास तरह के बँधे हुए ढंग की कहानियाँ लिख रहे हैं- बल्कि उनकी हर कहानी वैसी ही कहानी होती है . . . जो एक ढंग उन्होंने अब तक बना दिया है। . . . पर जो भी उनका ढंग है, उसके बावजूद कुछ अच्छी कहानियों तो उन्होंने हमें दी हैं इसमें कोई शक नहीं। उतनी अच्छी कहानियाँ, मैं समझता हूँ, बहुत कम कहानीकारों के पास होंगी जितनी निर्मल के यहाँ है।"[16]

भावुकता का विरोध

नामवर जी कहानी रचना के संदर्भ में 'भावुकता' का सर्वाधिक विरोध करते है। इस भावुकता का प्रयोग विविध स्तरों पर सहानुभूति की सामग्री जुटाने के लिये कथाकार करते हैं। भाषा के स्तर पर प्राय: अधिक कवित्वपूर्ण, ललित सुंदर शब्दावली के प्रयोग से भाव की अशक्तता की क्षतिपूर्ति का प्रयास होता है। कहानी के विन्यास के स्तर पर भावुक लेखक अति नाटकीय अंत तथा पाठकों को उकसाने वाली और आर्द्र करने वाली टिप्पणियों को जबरन कहानी में शामिल करता हैं। नामवर जी कहते हैं- "दरअसल भावुकता के साथ सबसे बडी दिक्कत है कि भावुक व्यक्ति को स्वयं अपनी भावुकता की शक्ति में पूरी आस्था नहीं होती, इसलिये भावुकता को प्रभावपूर्ण बनाने केलिये वह रह रहकर अनेक युक्तियाँ गढता है।"[17] कहानी के क्षेत्र में भावुकता के प्रति

---

16. सं. भरत यायावर : नामवर सिंह : आलोचना के रचना पुरुष, पृ.270
17. नामवर सिंह : कहानी : नई कहानी, पृ.152

आलोचक और पाठक से वे सतर्कता की माँग करते हैं क्योंकि इससे कहानी में जीवन के समस्याओं की अभिव्यक्ति में अति सरलीकरण का खतरा है। निर्गुण की 'एक शिल्पहीन कहानी' और विष्णु प्रभाकर की 'धरती अब भी घूम रही है' कहानियों की यही दुर्बलता है।

पाठक वर्ग और रसास्वादन का विस्तृत परिदृश्य

'कहनी : नई कहानी' का दूसरा खंड है 'प्रक्रिया'। इसमें पाठक की भूमिका और कहानी के रसास्वादन की प्रक्रिया का विश्लेषण किया गया है। इससे पहले कहानी का एक निष्क्रिय पाठक वर्ग था जो लोकप्रिय, मनोरंजक कहानियों को पढकर उन पर 'अच्छी' या 'बुरी' के रूप में अपनी राय प्रकट करता था। नामवर जी ने एक सक्रिय, सचेत और जागरूक पाठक वर्ग के निर्माण की सार्थक और सफल पहल की। उनके लेखन ने कहानी लेखकों, आलोचकों और पाठकों को समान रूप से प्रभावित किया। नामवर जी का विचार है कि तालस्तोय, चेखव आदि साहित्यकारों के महिमामय साहित्य के निर्माण में रूसी पाठक समुदाय की बडी भूमिका रही है। हिन्दी में प्रेमचंद की कोशिशों के बावजूद कहानी और उपन्यास, पाठकों के लिये गल्प ही है। उसे समय काटने के लिये और मनोरंजन हेतु ही पढा जाता है। इस पठन में गम्भीरता का अभाव है। यह भी असंदिग्ध है कि लोकप्रिय जनतांत्रिक विधा होने के कारण कहानी का आस्वादन भी जनतांत्रिक तरीके से ही हो सकता है।

नामवर जी मानते हैं कि साधारण पाठक अनुभव के सहज बोध से ही बातों को ग्रहण करने की कोशिश करते हैं। वे इसी सहज बोध के स्तर से पाठक को शिक्षित

करने की आवश्यकता पर जोर देते हैं। केवल प्रभाव ग्रहण करना, 'पढना' नहीं है। 'पढना' तो एक रचनात्मक कार्य है। इस कहानी-पाठ की प्रक्रिया को नामवर जी इस प्रकार विश्लेषित करते हैं- "कहानी शुरु होती है, मन की दुहरी क्रिया शुरु होती है। मन एक ही साथ वर्तमान में भी है और भविष्य की ओर भी दौडता है। हैं हम यहाँ, अनुमान लगाते हैं आगे का। आगे बढने का अनुमान गलत निकलता है, कभी सही निकलता है .... मन कभी इस रास्ते आगे बढता है तो भूल महसूस कर कभी उस रास्ते। अचानक दिशा का संकेत मिल जाता है। हम समझ लेते हैं कि लेखक किधर ले जाना चाहता है। बिजली की एक कौंध सी होती है। आलोक की एक रेखा में अचानक सब कुछ जुड जाता है। बिखरी घटनायें एक कथानक में उभरकर उठती हैं, निरर्थक प्रतीत होने वाली बातें सार्थक हो जाती हैं, खंडचित्रों को एक रूपाकार मिल जाता है, छिटपुट प्रभाव एक भाव में बँध जाते हैं और भाव एक विचार के रूप में आलोकित हो उठता है।"[18]

प्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यासकार ई.एम. फोस्टर मानते हैं कि कहानी संबंधी कुतूहल आदिम मानव की मनोवृत्ति होने के कारण अवर कोटि का है। 'फिर क्या हुआ' प्रश्न के मूल में एक तरह का अविवेक मानते हैं। नामवर जी उनके मत का विरोध करते हुए उसे एक तरह की 'स्नॉबरी' मानते हैं। "यदि मि.फोस्टर गौर से देखते तो उन्हें पता चलता कि 'फिर क्या हुआ' के प्रश्नों से आदिम मानव अपनी रात को अगली सुबह से जोड रहा था और कायम कर रहा था एक सिलसिला अपने हर कार्य और घटना के बीच।"[19]

---

18. नामवर सिंह : कहानी : नई कहानी, पृ.79
19. वही, पृ.90

मि. फोस्टर ने कहानी (Story) और कथानक (Plot) के भेद को भी स्पष्ट किया है। उनके अनुसार कहानी केवल 'क्या' का उत्तर देती है और कथानक 'क्यों' का समाधान देता है। कार्य-कारण परंपरा जोड़ने से कथानक बनता है। नामवर जी उनके इस मत के विरोध में यह तर्क देते हैं कि कहानी में हर घटना का मनोवैज्ञानिक सामाजिक या आर्थिक कारण खोजने की वृत्ति बुद्धिवादी आंदोलन का फल है। इस दृष्टि का यह कुप्रभाव है कि सीधे-सादे कथानक को घटिया कहानी माना जाता है। ऐसे लोगों के लिये प्रेमचंद भी किस्सागो मात्र हैं। नामवर जी मानते हैं कि श्रेष्ठ कहानी वह है जिसमें पाठक अपनी ओर से केवल 'क्या' के पीछे चलता रहे लेकिन कहानी समाप्त होने के बाद उसके मन में 'क्यों' का उत्तर भी मिल जाये। पाठक भी अकसर कहानी का अर्थ खोजने का प्रयास करते हैं। हम आरंभ से ही कहानी से मॉरल या नैतिक उपदेश की उम्मीद करते हैं।

कहानी एक 'सार्थक घटना' है। इसलिये कथात्मक कृति का संक्षेप प्रस्तुत करना आसान कार्य नहीं है। यह संश्लिष्ट कहानियों के साथ और भी मुश्किल हो जाता है। चरित्र, वातावरण, कथोपकथन, विषय वस्तु,भाषा-शैली आदि स्तरों पर जो हम प्राप्त करते हैं वह रचना का कंकाल मात्र ही होता है। नामवर जी के शब्दों में "एक संश्लिष्ट अनुभव पुञ्ज को अगल-बगल से काट छाँट कर जो सीधी सपाट चीज प्राय: निकाली जाती है उसका सारा श्रेय पाठक को है और वह एकदम पाठक की अपनी रचना है। कहनीकार इस मामले में निर्दोष हैं। काश कि पाठक अपनी इस रचना के प्रति आत्म सजग होता।"[20] स्पष्ट है कि नामवर जी पाठक वर्ग से उस सजगता की उम्मीद करते हैं, जो किसी भी रचनात्मक कार्य के लिये अनिवार्य होती है।

---

20. नामवर सिंह : कहानी : नई कहानी, पृ.108

कहानी का पाठक उसका एक तरह से अनुवाद ही तो करता है। मूल कहानी को पढकर वह अपने मन में उसकी एक प्रतिमा निर्मित करता है। यह जिम्मेदारी सतही पाठ से संभव नहीं है। नामवर जी के शब्दों में- "अनुवाद की तरह पढना भी एक जिम्मेदारी है। बहुत बडी जिम्मेदारी, जिस केलिये आत्मीयता, समझदारी और यथाशक्ति मूल की रक्षा करने की क्षमता अपेक्षित है। अनुवादक की तरह पाठक की भी दुहरी जिम्मेदारी है- अपनी मानसिक प्रतिक्रिया के साथ ही लेखक की भी मानसिक प्रतिक्रिया को प्राप्त करना।"[21]

कहानी पाठ की प्रक्रिया का ऐसा विश्लेषण एवं पाठक की भूमिका का ऐसा सटीक मूल्यांकन अन्यत्र दुर्लभ है। साधारण पाठक, उसकी सहज दृष्टि और रचना को समझने तथा समझ कर स्वायत्त करने की प्रक्रिया के विविध स्तरों को नामवर जी ने उद्घाटित किया है।

नामवर जी श्री. बुद्धदेव बसु से इस बात पर सहमत है कि कहानी वह 'रचना' है जिससे कथानक के कंकाल को विछिन्न कर लेने से समस्त न पाया जाये। कभी-कभी कहानी में जिन जिन चरित्रों का महत्व नगण्य हो तथा कहानी के घटना विन्यास में जिनकी कोई सार्थक भूमिका न हो, उन्हीं में कहानी का वक्तव्य निहित होता है। उदाहरणस्वरूप वे चेखव की कहानी 'अन्ना ओन द नेक' को प्रस्तुत करते हैं। बर्गम के अनुसार, कहने को तो यह आद्यंत 'अन्ना' की कहानी है, पर कहानी का केन्द्र बिन्दु वस्तुत: उसके छोटे भाई हैं। ये दो अबोध बालक पूरी कहानी में केवल दो बार आते हैं और सिर्फ दो शब्द बोलते हैं। उनके वे शब्द वस्तुत: समाज की अंतरात्मा एवं

---

21. नामवर सिंह : कहानी : नई कहानी, पृ.73

नैतिकता की आवाज है। बर्गम के उक्त विश्लेषण से नामवर जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं- "यह एक आलोचक की बुद्धि का कोरा चमत्कार है अथवा कहानी के वास्तविक आशय की मार्मिक पहचान? जो भी हो जब एक नयी व्याख्या सामने आती है तो निर्णय देने से पहले कहानी को एक बार फिर पढना आवश्यक हो उठता है और यह आवश्यकता-मात्र इस तथ्य की पुष्टि करती है कि मूल आशय तक पहुँचने के लिये कहानी भी बार-बार पढने की चीज है।"[22] स्पष्ट है कि वे पाठक से उम्मीद करते हैं कि 'पढी हुई' कहकर किसी कहानी को न छोडा जाये और गंभीरता पूर्वक पुनर्पठन से कहानी के मर्म तक पहुँचने का प्रयास किया जाये।

कथालोचना और पाठ प्रक्रिया

कहानी आलोचना के क्षेत्र में नामवर जी पाठ प्रक्रिया की अतिमहत्वपूर्ण भूमिका स्वीकार करते हैं। आलोचकों के लिये भी बने बनाये प्रतिमानों के स्थान पर पाठ प्रक्रिया से गुजर कर निर्मित होते प्रतिमान ही वांछनीय हैं। इस पाठ प्रक्रिया का संबंध पाठक से है और पाठक का जीवन से। जीवन विविध रूपा है इसलिए उसे जीने वालों की रुचियाँ, प्राथमिकतायें और अनुभव भी भिन्न है अत: रचना के प्रति उनकी समझ, नजरिया और प्रतिक्रिया भी भिन्न है। पाठकीय आत्मीयता में एक तटस्थता और वस्तुपरकता का होना निस्संदेह वांछनीय है। प्रत्येक आलोचक पहले पाठक होता है। इस अर्न्तसंबंध को नामवर जी ने विश्लेषित किया है। 'पहल' में सुरेश पांडे को दिये प्रसिद्ध साक्षात्कार में वे कहते हैं- "आलोचना का यह कर्तव्य भी है कि पहला काम तो मूल के पक्ष के रूप में लेखक के उस मूल कथ्य को परिभाषित करे। इस स्तर पर

---

22. नामवर सिंह : कहानी : नई कहानी, पृ.115

आलोचक की हैसियत मूल पाठक की है। यही पाठक आगे चलकर आलोचक बनता है। परंतु पाठक से आलोचक का बदलाव आसान नहीं होता। कहानी समीक्षा के प्रतिमान इसी प्रक्रिया के दौरान निर्मित होते हैं।"[23]

नामवर जी के आलोचना-कर्म के निरीक्षण से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि वे पहले पाठक होते हैं फिर आलोचक। निर्मल वर्मा की कहानी कला और भाषा के प्रति वे अत्यधिक मोह रखते है। फिर भी परवर्ती रचनाओं की कमजोरियों को वे नजरंदाज नहीं करते। पूर्वग्रह में छपे साक्षात्कार में वे कहते हैं- "इतनी अच्छी कहानियाँ लिखने वाले निर्मल को ही लें तो वे जिन्दगी के हाशिये की स्थितियों और अनुभूतियों को ही स्पर्श करके रह जाते हैं। जो मुख्य चिंता इस दौर में मनुष्य की रही है वह जैसे उनकी कहानियों से गायब है। मेरा संकेत जिन्दगी की ज्वलंत समस्या की ओर है। निर्मल जी बहुत अच्छे कहानीकार हैं लेकिन निर्मल जी जैसे उस ज्वलंत समस्या के हाशिये पर स्थित है।"[24] इस प्रकार अपने ही मत का संशोधन कर नामवर जी ने संतुलित और स्वस्थ आलोचकीय विवेक का परिचय दिया है।

चुनी हुई कहानियों का पाठ विश्लेषण

व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत नामवर जी कुछ कहानियों की चर्चा करते हैं। इस श्रृंखला के अंतर्गत वे सबसे पहले जासूसी, एय्यारी, सनसनीखेज कहानियों पर विचार करते हैं। इन अवास्तविक और असंभव कहानियों के प्रति पाठक वर्ग की शाश्वत दिलचस्पी है। वैज्ञानिक उन्नति के बावजूद इसमें किसी तरह का परिवर्तन नहीं

---

23. पहल- अंक 7, 1985, पृ.39
24. पूर्वग्रह मार्च-जून 1984, पृ.17

आया। इन्हें बच्चों के लिये रचित साहित्य कहकर इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। हम इन कहानियों को ऐंद्रजालिक इसलिये मानते हैं क्योंकि उस दुनिया में हमारी दुनिया के कायदे-कानून लागू नहीं होते। नामवर जी के अनुसार- "हो सकता है कि दुनिया के नियमों ने हमारी आँखों पर पर्दा डाल दिया हो और अभ्यासवश अति-परिचित को ही हम वास्तविक मानकर चल रहे हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि अन्तर्दर्शी लेखक ने इस चालू दुनिया के अंदर छिपी उस असली दुनिया को सहसा देख लिया हैं और पूरे विस्मय के साथ हमारे सामने उसे उद्घाटित कर दिया और अपरिचय तथा अनभ्यास के कारण हम उसे 'फैन्टेस्टिक' कह रहे हैं?"[25] ऐंद्रजालिक कहानियों को अयथार्थ कहकर उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। नामवर जी का तर्क है कि 'डर' भी तो अयथार्थ होता है। लेकिन वही डर जब मृत्यु का कारण बनता है तो वह मृत्यु तो डर के यथार्थ होने का ही प्रमाण है।

जैनेन्द्र की कहानी 'नीलम देश की राजकन्या' ऐसे ही एक 'डर' से प्रेरित है। इस कहानी का विश्लेषण करते हुए नामवर जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इसकी कमजोरी यह नहीं है कि वह फैंटेसी है बल्कि यह है कि वह वास्तविक फैंटेसी नहीं है। इस प्रसंग में वे प्रसाद जी की कहानी 'स्वर्ग के खंडहर में' का भी उल्लेख करते हैं। यथार्थवादी कहलानेवाले जैनेन्द्र की अपेक्षा छायावादी कहलानेवाले प्रसाद का 'स्वर्ग' अधिक स्वाभाविक है। जैनेन्द्र की कहानी का राजपुत्र एक वहम ही रह जाता है, उसकी वास्तविकता का एहसास अन्य कथापात्रों के समान पाठक को भी नहीं हो पाता। दूसरी ओर प्रसाद जी अपनी सुंदर कल्पना दृष्टि से 'स्वर्ग' का निर्माण करते है

---

25. नामवर सिंह : कहानी : नई कहानी, पृ.79

और अंत में अपनी यथार्थ दृष्टि से उसका ध्वंस भी करते हैं। जैनेन्द्र जी की आत्मवादी दृष्टि उनकी फैंटसी के असफल बनाती है। सफल फैंटसी के विषय में नामवर की राय है- "आस्कर वाइल्ड ने कहीं कहा है कि सफल झूठ वह है जिसके लिये अन्य प्रमाण की आवश्यकता न हो, उसी प्रकार सफल फैंटेसी वही है जो स्वत: सिद्ध हो, अपने आप में असंदिग्ध हो।"[26]

शिल्पगत नवीनता के साथ कथा तत्व के सुरक्षित निर्वाह का उत्तम उदाहरण है, कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया'। आधुनिक निम्न मध्यवर्गीय पुरुष की कमजोरी को उभारने के लिये एक लोककथा का सहारा इसमें लेखक ने लिया है। नामवर जी लिखते हैं-"कहानी में लोककथा का यह उपयोग शिल्प संबंधी नवीनता कही जा सकती है लेकिन यह कोरा शिल्प नहीं है, न इससे कहानी के कहानीपन में बाधा पडती है। इसके विपरीत वह लोक कथा मुख्य कथा को और भी मार्मिकता प्रदान करती है। जैसे दो समीपवर्ती तारों में से एक की झंकार दूसरे में भी सह-स्पंदन उत्पन्न कर देती है।"[27]

कहानी में समाज के अंतर्विरोधों की ओर संकेत करते हुए भी उसकी एकान्विति को बनाये रखने वाले श्रेष्ठ कहानीकार है भीष्म साहनी। 'चीफ की दावत' नामवर जी की दृष्टि में इसका उत्तम उदाहरण है। इसमें शामनाथ घर के अन्य फालतू सामान के साथ अपनी माँ को भी चीफ की नजरों से छिपाने की कोशिश करता है। माँ, बेटे के व्यवहार का बुरा नहीं मानती वरन् उसके हित के लिये अपने को छिपाती फिरती है। कहानी में सबसे बडी विडम्बना यह है कि जिस माँ को उसने छिपाने की कोशिश की थी, जब चीफ ने उसे देखा, तो यह देखना हितकर ही साबित हुआ। नामवर जी

---

26. नामवर सिंह : कहानी : नई कहलनी, पृ.85
27. वही

कहते हैं- "गहरे जाकर देखें तो माँ केवल एक चरित्र नहीं, बल्कि प्रतीक भी है- प्रतीक संपूर्ण प्राचीन का। इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक समर्थ कहानीकार किस प्रकार जीवन की छोटी से छोटी घटना में अर्थ के स्तर-स्तर उद्घाटित करता हुआ उसकी व्याप्ति को मानवीय सत्य की सीमा तक पहुँचा देता है। ऐसे अर्थगर्भत्व को मैं सार्थकता कहता हूँ।"[28]

'कहानी : अच्छी और नयी' के अंतर्गत वे निर्गुण की एक शिल्पहीन कहानी और उषा प्रियंवदा की 'वापसी' कहानी के मूल्यांकन का प्रयास करते हैं। दोनों कहानियों में रिटायर्ड वृद्ध सज्जनों की जीवन गाथा प्रस्तुत की गई है।

निर्गुण जी अपनी कहानी में पाठक की सहानुभूति जाग्रत करने का हर संभव प्रयास करते हैं। जिस पुत्र का जीवन सँवारने के लिये विधुर पिता अपनी पेनशन भी खर्च कर देते हैं, उसकी बहू के दुर्व्यवहार से उनके जीवन का अंतिम समय करुणाजनक हो जाता है। कथ्य का विश्लेषण करने पर यह एक रिटायर्ड सज्जन और उनकी अत्याचारी बहू की कहानी है। नामवर जी 'अतिभावुकता' को इस कहानी की सबसे बडी कमजोरी मानते हैं।

इसके विपरीत वे उषा प्रियंवदा की कहानी 'वापसी' को प्रस्तुत करते हैं जो विषय-वस्तु की दृष्टि से लगभग समान है। गजाधर बाबू पैंतालीस वर्षों तक नौकरी के सिलसिले में घर से अलग रहे। रिटायर होकर घर लौटने पर वे अपने ही परिवार का हिस्सा नहीं बन पाये। निराश होकर अंतत: वे उसी जगह वापस लौट पडे जहाँ वे स्टेशन मास्टर थे। वहाँ एक चीनी मिल में उन्होंने नौकरी कर ली। गजाधर बाबू की

---

28. नामवर सिंह : कहानी : नई कहानी, पृ.26

इस वापसी पर पाठक आँसू नहीं बहाता किंतु जीवन के प्रति एक गहरा पीडा-बोध होता है। उनका अपरिहार्य अकेलापन मात्र उनका नहीं है। वह कहीं न कहीं सभी के अंदर मौजूद है। गजाधर बाबू की स्थिति का प्रतीक उस घर की 'चारपाई' है। बैठक में पडी चारपाई बाद में पत्नी के छोटे से कमरे में डाल दी गई और उनके जाते ही उनकी पत्नी स्वयं उस चारपाई को हटा देती है। सजी हुई बैठक में उनकी चारपाई जितनी असंगत है, उस घर में उनकी उपस्थिति वैसी ही है।

नामवर जी ने उपर्युक्त दोनों कहानियों का तुलनात्मक विश्लेषण किया है- "निर्गुण की 'एक शिल्पहीन कहानी' के रिटायर्ड आदमी के दु:ख का कारण यदि बहू का स्वभाव है तो उषा प्रियंवदा की 'वापासी' के दु:ख का कारण तो वह स्वयं है। यदि एक कहानी में दु:ख का कारण बाहरी है तो दूसरे में भीतरी। यह अंतर दोनों कहानियों के केन्द्र बिंदु में काफी अंतर उत्पन्न कर देता है- यहाँ तक कि वापसी की थीम एकदम भिन्न हो जाती है। स्पष्ट ही यह दो जीवन दृष्टियों का अंतर है, इससे दोनों कहानियों के रूपविन्यास एवं शिल्प में अंतर आ गया है। यदि निर्गुण भावुकतापूर्ण ढंग से कहानी कहते हैं तो उषा प्रियंवदा की कथन-शैली में एक प्रकार की तल्खी लिये तटस्थता है। कथानायक के प्रति 'वापसी' में कहीं अतिरिक्त सहानुभूति नहीं उभरने पाती, बल्कि उसको यथासंभव 'असंगत' एवं 'उपहासास्पद' ही दिखाया गया है। कथानायक की पत्नी के व्यक्तित्व में जो उदासीनता, तल्खी और अंदर कहीं दबी हुई ममता का मिला जुला भाव है, वही जैसे पूरी कहानी का 'स्वर' है। कहना न होगा कि कुल मिलाकर 'वापसी' निश्चित रूप से 'एक शिल्पहीन कहानी' से अच्छी है और 'वापसी' के साथ रखने देखने पर 'एक शिल्पहीन कहानी' की दुर्बलतायें स्पष्ट रूप से सामने आ जाती हैं।"[29]

---

29. नामवर सिंह : कहानी : नई कहानी, पृ.144

नामवर जी के इस लेख ने बहसों की एक श्रृंखला आरंभ कर दी थी। 'निर्गुण जी की असामाजिक भावुकता का समर्थन करने के लिये आलोचकों ने उनकी तुलना शरत् बाबू से भी की है। इससे नामवर जी को कडी आपत्ति है। साथ ही आलोचकों ने 'वापसी' पर कई तरह की आपत्तियाँ उठायीं। उषा प्रियंवदा के भावावेग रहित और संतुलित दृष्टिकोण का नामवर जी ने खुलकर समर्थन किया है।

भावुकता को ही नामवर जी विष्णु प्रभाकर की कहानी 'धरती अब भी घूम रही है' की सबसे बडी कमजोरी के रूप में रेखांकित करते हैं। इसमें बच्चों की अबोधता और सरलता के चित्रण द्वारा करुणा जगाने का प्रयास किया गया है। आलोचक की दृष्टि में इस कहानी का दोष यह है कि इसमें करुणा और सहानुभूति जगाने के प्रयास में कहानीकार रिश्वतखोरी की जटिल परिस्थितियों का बोध कराने में असमर्थ हो जाते हैं।

कथालोचना से विमुखता

सन् 1964 में 'माया' में कहानी संबंधी नामवर जी का आखिरी लेख प्रकाशित हुआ था। इसमें नई कहानी की सीमाओं को पहचान कर और उस सीमा से बाहर निकलकर नये रास्ते तलाश करने वाले कहानीकारों की एक नई पीढी के आगमन की सूचना थी। इसके साथ ही प्रगतिशीलता का मुखौटा पहनकर कहानी के क्षेत्र में घुसपैठ करती व्यावसायिकता की ओर भी संकेत किया गया है।

'कहानी : नई कहानी' के माध्यम से कथालोचना के विकास में ऐतिहासिक योगदान देनेवाले नामवर जी ने इसके उपरांत कहानी पर लेख प्रकाशित नहीं किये। इस संबंध में उदय प्रकाश के प्रश्न का उत्तर नामवर जी इस प्रकार देते हैं-"मेरी

आलोचना का उद्देश्य यदि एक तरफ कहानी संबंधी समीक्षा को एक व्यवस्थित रूप देने का था तो दूसरी तरफ वह सामान्य पाठकों को भी संबोधित थी। कुछ कहानियों को चुनकर मैंने उनमें एक क्रम स्थापित किया और इस क्रम में कौन सी कहानी अच्छी है या बुरी है उस पर भी मैं ने विचार किया था। लेकिन मध्यवर्गीय मानसिकता को उभारने वाली कहानियों में विकास के बावजूद नई कहानी आंदोलन के दिनों में एक दौर ऐसा भी आया जब व्यावसायिकता उस पर हावी हुई। आज भी सारिका जैसी पत्रिकाओं में इसका रूप दिखाई पडता है। यह व्यावसायिकता प्रगतिशीलता का नकाब ओढ कर आयी थी। आपको याद होगा- 1962 के आसपास, कमलेश्वर, 'नई कहानियाँ' के संपादक बन गये थे। इस व्यावसायिकता के विरुद्ध संघर्ष करने केलिए कहानी के क्षेत्र में ईमानदार प्रयोगों के साथ ज्ञानरंजन, कालिया, दूधनाथ, काशीनाथ आदि सामने आये थे, लेकिन वे अल्पसंख्यक थे, फिर भी एक संभावना नजर आ रही थी। बाद में आपको मालूम ही है कि 'समानांतर' आंदोलन चला और पूरी की पूरी एक नयी पीढी कुछ व्यावसायिक लोगों का शिकार हो गई। मेरी अधिक दिलचस्पी नयी कहानी को गहरी सूझ और चर्चा की ओर ले जाना था। लेकिन मुझे लगा कि इसमें रुचि नहीं है, वातावरण में घोषणा पत्र, वक्तव्य गुट-परस्ती और नारेबाजी हावी थी। इसलिये कहानी संबंधी आलोचना को अंतिम रूप से मैंने छोडा तो नहीं, लेकिन कुछ अन्य महत्वपूर्ण कार्यों में लग गया।"[30]

निष्कर्ष

'कहानी : नई कहानी' के माध्यम से नामवर सिंह जी ने निस्संदेह ही एक साहसिक प्रयोग किया था। उन्होंने कविता के क्षेत्र तक सीमित आलोचना को

---

30. सं. समीक्षा ठाकुर : कहना न होगा, पृ.45

कहानी के क्षेत्र तक फैलाया। सामयिक उद्देश्यों की पूर्ति करने के साथ ही, समकालीन कहानियों का व्यावहारिक विश्लेषण कर उन्होंने कथा रचना की दिशा मोडने में सार्थक भूमिका निभाई। 'कहानी समीक्षा के प्रतिमानों की निर्माण प्रक्रिया' शीर्षक लेख में शंभु गुप्त, नामवर जी की कथालोचना का मूल्यांकन इस प्रकार करते हैं- "यदि हम पिछले तीस-चालीस सालों की हिन्दी कहानी समीक्षा का जायजा लें तो अत्यंत दु:ख के साथ यह कहना पडता है कि कहानी समीक्षा के प्रतिमानाधार ज्यादातर वही हैं जो नामवर जी ने अपनी पुस्तक में उस समय प्रस्तुत किये थे। हालाँकि दु:ख के साथ साथ यह एक अत्यंत हर्ष और आश्वस्ति का विषय भी है कि नामवर जी ने एक ही बार में कहानी के प्रतिमानों पर इतनी गहराई और व्यापकता के साथ विचार करके एक ऐसा पुख्ता राजमार्ग बना दिया कि हर एक तरह का वाहन उस पर से इत्मीनान से गुजर सके।"[31] नामवर जी का कथालोचना के क्षेत्र में ऐतिहासिक महत्व तो है ही, समकालीन साहित्य, समाज और जीवन पर उनकी टिप्पणियों ने आलोचना-कर्म को नवीन परिभाषा दी है।

साहित्य के क्षेत्र में कहानी विधा के स्वतंत्र अस्तित्व की माँग नामवर जी ने की। साहित्य के विभिन्न रूपों को वे केवल 'रूप' नहीं बल्कि जीवन को समझने के भिन्न माध्यम मानते हैं। नित्य विकासशील जीवन की वास्तविकता को समझने केलिये नये-नये रूपों की उत्पत्ति हुई और यही कहानी के उद्भव का भी ऐतिहासिक संदर्भ है। जिस युग में चारों ओर निरर्थकता की भावना व्यापक रूप से फैल रही थी उसमें कहानी की सृष्टि लघुता को सार्थकता प्रदान करने के लिये हुई है। 'सार्थकता' का स्पष्टीकरण देते हुये वे कहते है- "इससे स्पष्ट होता है कि किस प्रकार एक समर्थ कहानीकार जीवन की

---

31. सं. कमला प्रसाद : नामवर सिंह : आलोचना की दूसरी परंपरा, पृ.301

छोटी से छोटी घटना में अर्थ के स्तर उद्घाटित करता हुआ उसकी व्याप्ति को मानवीय सत्य की सीमा तक पहुँचा देता है। ऐसे अर्थगर्भत्व को मैं सार्थकता कहता हूँ।"[32] नामवर जी की लोकोन्मुखी दृष्टि कहानीकारों से यह माँग करती है कि वह अपने युग के मुख्य सामाजिक अन्तर्विरोध के संदर्भ में अपनी कहानी की सामग्री का चुनाव करे।

श्रेष्ठ कहानी कलाकृति के रूप में अखंड इकाई है किंतु उसके निर्माण में अनेक तत्वों का योग होता है। इन तत्वों में सबसे महत्वपूर्ण तत्व है 'ऐतिहासिक नवीनता'। संघर्ष के स्थूल धरातल को छोड कर मनुष्य की गहन आंतरिक समस्याओं का चित्रण करने वाले निर्मल वर्मा नामवर जी के प्रिय कहानीकार हैं। उनकी कहानियाँ मानव मुक्ति के साथ ही कहानी विधा की मुक्ति का भी उद्बोधन करती है। सीमाओं का अतिक्रमण करने में ही निर्मल वर्मा की विशिष्टता है। "निर्मल ने अपनी रचना के द्वारा प्रमाणित कर दिया है कि जो सबका अतिक्रमण करने की क्षमता रखता है वही सब को सही चित्रों में उहेरने की सिद्धि भी प्राप्त करता है। निर्मल ने स्थूल यथार्थ की सीमा पार करने की कोशिश की है, उन्होंने तात्कालिक वर्तमान का अतिक्रमण करना चाहा है, उन्होंने प्रचलित कहानी कला के दायरे से भी निकलने की कोशिश की है, यहाँ तक कि शब्द की अभेद्य दीवार को लाँघकर शब्द के पहले के 'मौन जगत' में प्रवेश करने का भी प्रयत्न किया है और वहाँ जाकर प्रत्यक्ष इंद्रिय-बोध के द्वारा वस्तुओं के मूल रूप को पकडने का साहस दिखलाया है।"[33] निर्मल वर्मा की कहानी कला की प्रशंसा करने के कारण नामवर जी को साहित्य क्षेत्र में बहुत से विरोधों का सामना करना पडा।

---

32. नामवर सिंह : कहानी : नई कहानी, पृ.26
33. वही, पृ.64

निर्मल जी को गैर प्रगतिवादी या प्रगतिवाद विरोधी कह कर नामवर जी की आलोचना दृष्टि पर सवाल खडे किये गये। प्रगतिवादी आलोचक होने के नाते उनपर यह आरोप लगाया गया कि उन्होंने नई कहानी के अंतर्गत विकसित प्रगतिवादी धारा का मूल्यांकन व समर्थन नहीं किया। वस्तुत: नामवर जी का समस्त लेखन इस बात का प्रमाण है कि एक आलोचक के रूप में मार्क्सवाद उनकी विचारधारा अवश्य है किंतु कमजोरी नहीं। विरोधी विचारधारा के लेखकों की सृजनात्मकता को वे नजरंदाज नहीं करते और समान राजनीतिक विचार किसी लेखक को उनकी प्रशंसा के अधिकारी नहीं बनाते। इस संदर्भ में उनके विचार हैं- "निर्मल वर्मा का, उनकी जीवन दृष्टि, उनकी राजनीति का जिस रूप में विकास हो रहा है उसे मैं बहुत गलत समझता हूँ। बावजूद इसके उनका जो साहित्यिक सृजन है और जो साहित्यिक महत्व है, उससे मैं इन्कार नहीं कर सकता। मैं अज्ञेय से असहमत हूँ, उनके विचारों को गलत मानता हूँ, इसका मतलब यह नहीं कि हमारे ही विचारों को मानने वाले किसी मामूली रचनाकार से उनको घटिया घोषित कर दूँ। साहित्यिक आलोचना के ऐसे निष्कर्षों के बारे में, खास तौर से मार्क्सवादी आलोचना के बारे में, काफी गंभीरता और विस्तार से बात होनी चाहिये। लेखक की राजनीति उसकी संपूर्ण जीवन दृष्टि या विश्वदृष्टि नहीं है, वह उस विश्व दृष्टि का एक अंश है जिससे लेखक का सौंदर्यबोध निर्धारित होता है और जिस की अभिव्यक्ति स्वयं साहित्यिक कृति है।"[34]

चमत्कार, कोरी नाटकीयता, अति भावुकता कुछ ऐसे तत्व है, जिनके प्रति नामवर जी नये कहानीकारों को आगाह करते हैं। कहानी रचनात्मक संभावनाओं से

---

34. सं. समीक्षा ठाकुर : कहना न होगा, पृ.50

परिपूर्ण प्रधान साहित्यिक विधा है। परम्परा प्राप्त फार्मूलों के स्थान पर इस में जीते-जागते आदमी को ही केन्द्र में रखना चाहिये। जीवन की जटिलता का बोध भी सफल कहानी में आवश्यक है। परिवेशबोध के अभाव में कथागत संवेदनायें काल्पनिक प्रतीत होती हैं और कहानी शिल्प चमत्कार होकर रह जाती है। नामवर जी अपनी संवेदनशील कथादृष्टि से प्रेरित होकर ही कहते हैं-"प्रकाशचन्द्र गुप्त के इस कथन में सच्चाई है कि किसी बडी आस्था अथवा विश्वास के अभाव में कला के तत्वों का विघटन होने लगता है। आशा करनी चाहिये कि स्वयं अपनी रचना संबंधी आवश्यकताओं से ही प्रेरित होकर कहानीकार उस सामाजिक विवेक और मानववादी आस्था की उपलब्धि करेगा।"[35]

35. नामवर सिंह : कहानी : नई कहानी, पृ.47

अध्याय - पाँच

मार्क्सवादी साहित्यिक प्रतिमान और नामवर सिंह की आलोचना पद्धति

मार्क्सवादी साहित्यिक प्रतिमान और नामवर सिंह की आलोचना पद्धति

- प्रमुख मार्क्सवादी विचारकों के कला-साहित्य संबंधी विचार
- हिन्दी में प्रगतिवादी साहित्य के प्रस्थान बिंदु
- डॉ. नामवर सिंह के पूर्ववर्ती प्रमुख मार्क्सवादी आलोचकों की समीक्षा दृष्टि
- मार्क्सवादी आलोचना सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में डॉ. नामवर सिंह के साहित्य की प्रत्यालोचना
- निष्कर्ष

मार्क्सवादी साहित्यिक प्रतिमान और डॉ.नामवर सिंह की आलोचना पद्धति

प्रमुख मार्क्सवादी विचारकों के कला-साहित्य संबन्धी विचार

मार्क्स और एंगेल्स - मार्क्सवादी समीक्षा का उत्स कार्ल मार्क्स की उन अवधारणाओं में निहित हैं जो उन्होंने समय समय पर कला, सौन्दर्य और साहित्य के सवालों से जूझते हुए अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त की थी। मार्क्स के सहयोगी फ्रेडरिक एंगेल्स के विचार भी महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने, न केवल मार्क्स की अवधारणाओं को व्याख्यायित किया वरन् अपने मौलिक चिंतन से उसे समृद्ध किया है। समाज के शोषण को मिटाना तथा समाज का सर्वांगीण विकास प्रस्तुत करना मार्क्सवाद का उद्देश्य है। मार्क्स और एंगेल्स प्रमुख रूप से क्रांतदर्शी समाज दर्शन के उन्नायक थे। उन्होंने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए साहित्य और कला को 'अस्त्र' माना है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा, 'भौतिक जीवन में उत्पादन-प्रणाली ही मनुष्य की सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रियाओं का निर्धारण करती है।''[1] इसके आधार पर उन्होंने प्रतिपादित किया था कि मानव की भावसृष्टि एवं विचारधारा में निहित कलात्मक सर्जन के आधार भी भौतिक हैं। समाज के क्रांतिमूलक चेतना के विकास में कला और साहित्य का भी सहयोग रहता है।

साहित्यकार की चेतना समाज सापेक्ष होती है। उस पर चारों ओर के जगत् का प्रभाव पडता है। समाज के यथार्थ को साहित्य द्वारा प्रकट करना साहित्यकार का

---

1. "The mode of production in material life ditermines the social, political and intellectual life processes in general" -- Karl Marx and Frederick Engels – Literature and Art, Pg.1

दायित्व है । यथार्थवाद की विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए मार्क्स कहते हैं- "मेरे अनुसार, यथार्थवाद का तात्पर्य वस्तुवादी यथार्थ चित्रण के अतिरिक्त विशेष परिस्थितियों में टाइप पात्रों की विशिष्टताओं को निरूपित करना है।"[2]

मार्क्स की दृष्टि में समाज के दो वर्ग हैं- एक शोषक, दूसरा शोषित। साहित्य सोद्देश्य होना चाहिए। शोषित का पक्ष लेकर शोषण को मिटाने के लिए जन-मानस को तैयार करना उस का उद्देश्य होना चाहिए। जो साहित्य वर्ग संघर्ष का चित्रण नहीं करता- सर्वहारा के संघर्ष का सहायक सिद्ध नहीं होता, वह 'समाजवादी यथार्थवाद' नहीं कहा जा सकता। "समाजावादी लेखक को जागरुक रहकर पारस्परिक संबंधों को यथार्थ रूप में चित्रित करना चाहिए। यदि आज का साहित्यकार बूर्जुवा समाज की आशाओं को ध्वस्त करके वर्तमान समाज व्यवस्था के संबंध में अनेक प्रकार के संदेह उत्पन्न कर सके तथा यह दिखा सके कि यह व्यवस्था सदा चलने वाली नहीं है, तब भी वह अपने उद्देश्य को प्राप्त कर लेता है, चाहे स्पष्ट रूप से वह इंगित न कर सके कि आगामी व्यवस्था क्या होगी।"[3]

मार्क्स के अनुसार सामाजिक यथार्थ केवल वस्तु में निहित नहीं होता। इसके समझने और समझाने केलिए शैली महत्वपूर्ण अंग हैं। मार्क्स कहते हैं- "शैली मेरी

---

2. "Realism to my mind, implies, besides truth of detail, the truthful reproduction of typical characters under typical circumstances" Karl Mark and Frederick Engels – Literature and Art, Pg.36
3. "A socialist biased novel fully achieves its purpose, in my view, if by consiously describing the real mutual relations, breaking down conventional relations about them, it shatters the optimism of the bourgeois world, instils doubts as to the eternal character of the existing order, although author does not offer any definite solution or does not openly line up on any particular side". Ibid, Pg.39

निधि और भावात्मक व्यक्तित्व है। शैली ही मनुष्य है।"[4] प्रगतिवादी साहित्य की शैली सुस्पष्ट, सामान्य, वैविध्यपूर्ण लोक-जीवन की भाँति बहुमुखी होती है।

लेनिन

लेनिन रूस की अक्तूबर क्रांन्ति के नेता तथा मार्क्सवादी विचार दर्शन के अप्रतिम व्याख्याकार है। उन्होंने मार्क्सवादी कला-चिंतन को साहित्य में प्रयुक्त किया और सौंदर्यशास्त्र को सामाजिक वास्तविकता के साथ जोडा। वे कला और साहित्य की विशिष्ट प्रकृति की पहचान के साथ ही उसे सामाजिक दायित्व से जोडकर देखते हैं। उनके तोल्स्तोय संबंधी लेखों से उनके साहित्य संबंधी दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण होता है। साहित्य की शक्ति को स्वीकार करते हुये वे तोल्स्तोय का उदाहरण देते हैं। उनका मत है कि यदि तोल्स्तोय ने अपने उपन्यासों में किसानों को क्रांति में भाग लेते हुये दिखाया होता तो अवश्य ही किसानों ने सर्वहारा क्रांति में भाग लिया होता। "राजनीति से अलग-थलग रहने की, राजनीति से किनारा खींचने की तोल्स्तोय के नीति राजनीति में दिलचस्पी न होने अथवा उसे समझने की कोशिश न करने का नतीजा यह हुआ कि बहुत ही कम किसानों ने वर्ग चेतन क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग का साथ दिया।"[5]

प्राचीन साहित्य के पुनर्मूल्यांकन के संबंध में उनका विचार है कि उसका मूल्यांकन उस सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही होना चाहिये जिसने उसे जन्म दिया है। मार्क्सवादी सौदर्य शास्त्र के क्षेत्र में लेनिन का 'प्रतिबिम्ब सिद्धांत' अत्यंत प्रसिद्ध है।

---

4. "My property is form, it is my spiritual individuality. The style is man". Karl Mark and Frederick Engels – Literature and Art, Pg.52
5. डॉ. मक्खनलाल वर्मा आधुनिक हिन्दी आलोचना, पृ.62 से उद्धृत

यह सिद्धांत उनकी प्रसिद्ध रचना 'मेटीरियलिज्म एण्ड इम्पीरियो क्रिटिसिज्म' में प्रतिपादित है। 'प्रतिबिम्ब सिद्धांत' का स्पष्टीकरण डॉ शिवकुमार मिश्र इस प्रकार करते हैं- "लेनिन का उक्त सिद्धांत बाह्य वास्तविकता का अवमूल्यन करने वाली हर विचारधारा पर प्रहार करता है तथा इस बात पर आग्रह करता है कि रचनाकार, सामाजिक विकास के वस्तुनिष्ठ नियमों के तहत उभरने वाली बाहरी वास्तविकता को उसकी प्रतिनिधिकता में उसके सार तत्व के साथ पहचाने तथा उसके स्वरूप को कला रचना की विशिष्टता के बीच चित्रित करे। रचना के अंतर्गत चित्रित वास्तविकता बाहरी वास्तविकता से अलग न होकर उसी का कलात्मक रूप होती है। वह उसकी प्रतिकृति न होकर भी उसी का प्रतिनिधि रूप होती है।"[6]

मार्क्स और एंगल्स की कला-साहित्य संबंधी अवधारणाएँ लेनिन की व्याख्याओं के अंतर्गत अपनी समूची ऊर्जा के साथ व्यक्त हुई है और बूर्जुवा सौंदर्यशास्त्रियों के लिये चुनौती सिद्ध हुई हैं।

मैक्सिम गोर्की

'समाजवादी यथार्थवाद' का उद्घोष करने वालों में गोर्की प्रमुख हैं। वे आर्थिक असमानता को वर्ग संघर्ष का कारण मानते हैं और साहित्य में ऐसे समाजवादी यथार्थ को वांछनीय मानते हैं जो वर्तमान का मूल्यांकन करके समाजवादी भविष्य के उच्च आदर्शों पर भी प्रकाश डाल सके। गोर्की साहित्य में वर्गगत पात्र (टाइप) की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं। उन्होंने लिखा है- "साहित्यिक कृतियों में जब हम टाइप

---

6. डॉ. शिवकुमार मिश्र- आलोचना के प्रगतिशील आयाम, पृ.18

पात्रों का सृजन करते हैं तो वे निरे फोटोग्राफ नहीं होते, जिनमें उनका यथातथ्य चित्रण मात्र रहे वरन् वे साहित्यकार की कल्पना एवं सृजनात्मक प्रतिभा के अनुकूल होते हैं। 'टाइप' में साहित्यकार उस पात्र की वर्गगत विशेषताएँ, प्रवृत्तियाँ, रुचियाँ, स्वभावगत विशिष्टताएँ, विश्वास, मान्यताएँ तथा सैकडों के बोलने की पद्धति विशेष को पूँजीभूत कर देता है। उसमें व्यक्तिगत विशेषताओं के साथ वे वर्गगत विशेषतायें भी आकर उसे कलात्मक कृति बनाती हैं।"[7]

गोर्की की दृष्टि में रूसी साहित्य केवल रूसी भाषा में रचित साहित्य नहीं वरन् रूस देश में रचित समस्त साहित्य है। मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण वे मानव को सर्वोपरि मानते हैं। साहित्य और कला सर्वहारा मानव के संरक्षण के उपकरण हैं। 'समाजवादी यथार्थवाद' के उन्नायक के रूप में गोर्की का मूल्यांकन करते हुये डॉ. शिवकरण सिंह लिखते हैं- "वस्तुत: गोर्की एक क्रांतिकारी विचारक था। उसके पास एक संवेदनशील हृदय था जो मानवता के करुणामय स्पंदनों को गिन और सुन सकता था। अपने ही जीवन में उसने मानवीय एवं अमानवीय शक्तियों के दुर्दान्त संघर्ष को देखा था। संघर्ष के कारुणिक स्वरूप से ही द्रवित होकर उसने समाजवादी यथार्थवाद का जयघोष किया था। उसके जीवन काल में ऐसे देशों का आविर्भाव हो चुका था जिसमें क्रांति के पश्चात समाजवाद की स्थापना हो चुकी थी या सर्वहारा वर्ग के लोग पूँजीवादी व्यक्तियों के शोषक स्वरूप से मुक्त होने केलिए सतत संघर्षशील थे। उसका समाजवादी यथार्थवाद का नारा ऐसी स्थिति में विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ। इससे एक ओर पूँजीवादी व्यवस्था से मुक्त होकर समाजवादी समाज रचना के लिये

---

7. डॉ. मक्खनलाल शर्मा आधुनिक हिन्दी आलोचना, पृ.64 से उद्धृत

उत्सुक व्यक्तियों को प्रेरणा मिली और उनके समक्ष समाज का एक निश्चित आदर्श उपस्थित हुआ, तो दूसरी ओर पूँजीवादी व्यवस्था से मुक्ति पाने के लिये सतत् संघर्षरत व्यक्तियों को भी एक आशाप्रद और उत्साहवर्धक भविष्वाणी मिली। इस प्रकार अपने द्विविविध स्वरूप में यह सिद्धांत कर्मरत एवं पीडित मानवता के लिये पैगम्बरी संदेश सिद्ध हुआ।"[8]

माओत्सेतुंग

चीन के मुक्ति संग्राम के दौर में माओत्सेतुंग और उनके सहकर्मियों द्वारा भी मार्क्सवादी कला चिंतन को विकसित और समृद्ध किया गया। माओ, साहित्य को जनता के हित में प्रयुक्त करने के पक्षपाती हैं। साहित्यकार से उनकी अपेक्षा है कि वे श्रमिकों और किसानों के बीच जाकर उनके संघर्ष में सक्रिय रूप से भाग ले। फलस्वरूप जिस साहित्य का सृजन होगा उसे सर्वहारा साहित्य माना जायेगा। सन् 1942 में आयोजित 'येनान' की गोष्ठी में माओ ने कला एवं साहित्य पर विविध दृष्टियों से विचार किया था।

माओ मानते हैं कि शब्दों में निरूपित मार्क्सवादी विचारधारा हमारे लिये तभी उपयोगी सिद्ध हो सकती है जब हम उसे जीवन के व्यावहारिक पक्ष में सफलीभूत होते देखने के लिये प्रयत्नशील हो। रूसी समीक्षा से प्रेरित होकर उन्होंने उपयोगितावादी दृष्टिकोण स्वीकार किया है। उदात्त और सामान्य का समन्वय उन्हें वांछनीय है। वे जनता के सामान्य स्तर को उठाने का आह्वान करते हैं जिससे वह साहित्य के उदात्त रूप का आनंद ले सके और लाभान्वित हो सके।

---

8. डॉ. शिवकरण सिंह- आलोचना के बदलते मानदण्ड और हिन्दी साहित्य, पृ.508

माओत्सेतुंग के साहित्य संबंधी विचारों के विषय में डॉ मक्खनलाल वर्मा का निष्कर्ष है- "माओत्सेतुंग ने आज के साहित्य और समीक्षा का उद्देश्य क्रांतिकारी राजनैतिक विचारधारा की श्रेष्ठतम कला द्वारा अभिव्यक्ति माना है। वह साहित्य का केवल राजनीतिक दृष्टि से ही श्रेष्ठ रूप में होना पर्याप्त नहीं मानते वरन् उसकी कलात्मक श्रेष्ठता भी अनिवार्य मानते हैं। जहाँ उन्हें राजनैतिक दृष्टि से उचित मान्यता वाला साहित्य अपेक्षित है, वहाँ वे केवल प्रचारात्मक नारेबाजी का विरोध करके उसकी कलात्मक श्रेष्ठता की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं। साहित्य में उन्हें राजनीति और कला-विचार और श्रेष्ठ अभिव्यक्ति का समन्वय इष्ट है।"[9]

माओ के विचार मार्कर्सवादी कला दृष्टि को प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करते हैं और इस प्रक्रिया में मार्क्स और एंगेल्स की मूलवर्ती दृष्टि से अलग नहीं होते। यही कारण है कि उनका साहित्य और कला चिंतन मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्रीय चिंतन में नई समृद्धि का ही द्योतक माना गया है।

क्रिस्टोफर कॉडवेल

मार्क्सवादी दृष्टिकोण से उच्चकोटि की सैद्धांतिक समीक्षा प्रस्तुत करने वाले अंग्रेजी समीक्षकों में क्रिस्टोफर कॉडवेल अग्रणी हैं। 'भ्रम और यथार्थ' (Illusion and reality) उनकी प्रसिद्ध पुस्तक है जिसमें मार्क्सवादी चिंतन को सुनियोजित स्वरूप प्रदान किया गया है। इसमें वे न केवल कविता लेखन के उद्देश्य का अन्वेषण करते हैं वरन् उसके साधनों तथा उद्गम के कारणों की खोज भी करते हैं।

---

9. डॉ. मक्खनलाल वर्मा- आधुनिक हिन्दी आलोचना, पृ.84

कॉडवेल प्रतिपादित करते हैं कि फल एकत्र करनेवाले या शिकारी मानवों का आदिम समाज सामान्य भावनाओं से युक्त था। आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये किये जानेवाले मानव श्रम का अधिकांश क्रियाकलाप स्वत: प्रेरित नहीं होता, अतएव उसे कार्यरत होने के लिए किसी प्रेरणा स्रोत की अवश्यकता होती है। फसल काटने, बीज बोने, धान रोपने आदि के अवसर सामूहिक उत्सव कहे जा सकते हैं। लययुक्त अपरिष्कृत भाषा में रचित काव्य सामूहिक भाव को गठित करके उसे उपयोगी दिशा में प्रवृत्त करने का प्रमुख साधन सिद्ध होता है। इस अवसर पर वास्तविक फसल का स्थान उसका काल्पनिक चित्र ग्रहण कर लेता है। संगीत के बंद हो जाने के बाद भी इसकी स्वर लहरी का अनुपम प्रभाव रहता है जिसके कारण पूर्ववर्ती काल्पनिक उपज का चित्र उनकी आँखों के समक्ष निरंतर रहता है जो वास्तविक उपज के साधनों को एकत्रित करने के लिये प्रेरित करता है। इस प्रकार कविता आरंभ में मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये अवतरित हुई। कविता की प्रकृति का विश्लोषण करते हुए कॉडवेल ने उसकी प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है-

1. कविता लयात्मक है।
2. कविता को समझना कठिन है।
3. कविता अबौद्धिक होती है।
4. कविता शब्दों के माध्यम से लिखी जाती है।
5. कविता अप्रतीकात्मक होती है।
6. इसमें मूर्त विधान की प्रचुरता रहती है।
7. इसमें लालित्य-बोधीय प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता होती है।[10]

---

10. डॉ. शिवकरण सिंह- आलोचना के बदलते मानदण्ड और हिन्दी साहित्य, पृ.506 से उद्धृत

आलोचना के विषय में कॉडवेल का निश्चित मत है कि कला की भाँति समीक्षा केवल आनंद के लिये या सृजन के लिये नहीं लिखी जाती। कला की समीक्षा उसका आस्वादन मात्र नहीं है। कलाकृति को उसकी पृष्ठभूमि, समसामयिकता एवं परिवेश से जोड कर ही उसका मूल्यांकन किया जाना चाहिये। परवर्ती आलोचकों ने कॉडवेल की आलोचना-दृष्टि को त्रुटिरहित नहीं माना है किंतु सीमाओं के बावजूद, मार्क्सवादी चिंतन को सुनियोजित करने का श्रेय उन्हें प्राप्त है। शिवकुमार मित्र, कॉडवेल के योगदान पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं- "कॉडवेल बहुत अल्पायु में दिवंगत हो गये परंतु इस अल्पायु में ही बडी प्रखर मेधा के साथ वे कला चिंतन के क्षेत्र में उभरे तथा सहज सिद्धांत कथन तक ही अपने को सीमित न रखकर उन्होंने उन सिद्धांतों को साहित्य और कला की व्यावहारिक समीक्षा में प्रयुक्त किया। अंग्रेजी की कविता विशेषत: रोमानी कविता तथा अंग्रेजी के उपन्यास साहित्य को उन्होंने अपनी व्यावहारिक समीक्षा का लक्ष्य बनाया तथा मार्क्सवादी दृष्टि का विनियोग करते हुये उनकी समीक्षा को उभारा। उपन्यासों के क्षेत्र में उन्होंने यथार्थ दृष्टिकोण की वरीयता साबित की तथा कविता के क्षेत्र में कविता के सामाजिक आधारों तथा उसकी सामाजिक जीवन में सक्रियता की चर्चा करते हुए रोमानी व्यक्तिनिष्ठ आदर्शों का प्रतिकार किया। कविता को मूलत: एक सामाजिक कर्म मानते हुए उन्होंने उसके उद्भव की व्याख्या की, उसका संबंध मनुष्य के श्रम और सामूहिकता की भावना से जोडा तथा मनुष्य के क्रियाशील जीवन में उसकी क्रांतिकारी भूमिका को प्रस्तुत किया। मनुष्यता के अमरत्व के साथ उन्होंने कविता के अमरत्व की भी घोषणा की। इस बात को भी रेखांकित किया कि नई समाज रचना और नए मनुष्य के आविर्भाव के साथ कविता अपनी चरम ऊर्जा के

साथ मनुष्य की सहचरी बनी रहेगी । कॉडवेल ने स्वातंत्र्य, सौंदर्य, शौर्य जैसी अवधारणाओं की मार्क्सवादी दृष्टि से व्याख्या करते हुए बूर्जुवा सौंदर्यशास्त्रियों के विभ्रमों का पर्दाफाश किया और बताया कि सही स्वातन्त्र्य और सौंदर्य एक वर्गहीन समाज में ही संभव हो सकेगा, मार्क्सवाद की जिसके लिए जद्दोजहद है।"[11]

जार्ज लुकाच

लुकाच प्रसिद्ध हंगेरियन मार्क्सवादी विचारक हैं । उन्होंने यथार्थवाद को साहित्य की कसौटी माना है। मिथ्या वस्तुवादियों और मिथ्या व्यक्तिवादियों से उनकी यथार्थवाद संबंधी अवधारणा भिन्न और मौलिक है। यथार्थवादी साहित्य का प्रमुख मेरुदण्ड 'टाइप' है और यही चरित्रों और परिस्थितियों में निहित सामान्य और असामान्य तत्वों के संश्लेषण का प्रमुख माध्यम है। यथार्थवाद त्रि-आयात्मक है। पूर्ण मानवीय व्यक्तित्व को औचित्यपूर्ण पद्धति से प्रस्तुत करना और मानव व्यक्तित्व को समाज के अंग के रूप में समग्रता से देखना इसमें महत्वपूर्ण है। यथार्थवादी लेखक की सहानुभूति समाज के शोषित वर्ग के साथ होनी चाहिए।

लुकाच का दृष्टिकोण 'ऐतिहासिक भौतिकवादी' है । उन्होंने व्यक्तिवादी मनोविज्ञानाधारित साहित्यिक प्रवृत्तियों का विरोध किया । मार्क्सवाद का अनुसरण करते हुए वे साहित्य और कला को उपयोगितावादी दृष्टि से देखते हैं। गोर्की और टोल्स्टोय की प्रशंसा वे इसलिए करते हैं कि उन्होंने रूसी किसान, मजदूर तथा कृषि विहीन खेतिहर श्रमिक के संघर्ष और मुक्ति आंदोलन से अपने को बाँध लिया था।

---

11. डॉ. शिवकुमार मिश्र- आलोचना के प्रगतिशील आयाम, पृ.20

लुकाच की मान्यताओं के संबंध में यूरोपीय काव्य शास्त्र में अनेक संदेह प्रकट किये गये हैं। अर्नाल्ड कैटिल का मानना है कि यद्यपि लुकाच सौंदर्यशास्त्र और जीवन के बीच अलगाव के खतरों से वाकिफ थे, व्यवहार में वे उस अलगाव को ही लागू करते हैं।[12] उन्होंने लुकाच की गोर्की संबंधी आलोचना पर भी आपत्ति प्रकट की और उनकी मान्यताओं को जीवन से परे कहा।

डॉ. नामवर सिंह मानते हैं कि लुकाच अपना यथार्थवाद संबंधी अवधारणा में रिडक्शनिज्म के शिकार हुए हैं। उनका कहना है- "मार्क्स-एंगेल्स ने 'रियलिज्म' पर बहुत बल दिया था और साहित्य के लिये इसे एक मूल्य माना। आगे चल कर उसी परंपरा में जार्ज लुकाच ने यथार्थवाद को साहित्य का पर्याय माना; और उसी क्रम में सोवियत संघ में समाजवादी यथार्थवाद का विकास हुआ। इस यथार्थवाद को जिस रूप में परिभाषित किया जाता रहा है, कठिनाई उसके साथ है। इस यथार्थवाद को विशेषण लगा-लगा करके परिभाषित किया गया, खास तौर से लुकाच ने जिस रूप में परिभाषित किया है। उन्होंने दो शब्द लिये- एक को आलोचनात्मक यथार्थवाद कहा, दूसरे को समाजवादी यथार्थवाद। . . . . मूल बात तो यह है कि जो वास्तविकता है उसका चित्रण कोई लेखक किस हद तक करता है, कैसे करता है। इसे लेकर लम्बी बहस है कि यथार्थ क्या है और यथार्थ के चित्रण की क्या कोई पद्धति है। उस पद्धति का संबंध साहित्यकार की अपनी दृष्टि, अपनी विचारधारा से कितनी दूर तक है। अगर इसे समझने का प्रयत्न नहीं करेंगे तो रिडक्शनिस्म के शिकार हो जाएँगे, जो कि

---

12. "I think that Lukacs for all his theoretical awarerness of the dainger of divorcing aesthetics from life,does in practise tend to make such a separation."
A. Kettle - The modern quarterly, Vol.VI, Pg.81

जॉर्ज लुकाच हुए। लुकाच ने जब सौन्दर्यशास्त्र पर अपनी पुस्तक लिखी तो उसमें उपन्यासों की आलोचना के क्षेत्र में जो अवधारणा थी उसका विस्तार समस्त कलाओं के लिये किया और वहाँ पहुँचे जहाँ अरस्तू ने शुरु किया था -माइमेसिस या अनुकरण का सिद्धांत। लुकाच ने विस्तार से दिखाने की चेष्टा की कि जितनी कलाएँ हैं सब अनुकरण हैं। साहित्य और चित्रकला में तो इससे दिक्कत नहीं हुई लेकिन संगीत कला कैसे अनुकरण है, इससे उनको काफी कठिनाई हुई: वास्तुकला के संदर्भ में भी कठिनाई हुई। मैं ने एक कार्टून कहीं देखा था जिसमें अरस्तू को मार्क्स की दाढी पहना कर लुकाच के रूप में उपस्थित किया गया था, जिसका अर्थ था कि मार्क्सवादी लुकाच जब कला सिद्धांत खोजने निकले तो अरस्तू के पास पहुँचे। यह एक विद्रूप हो सकता है लुकाच के विचारों का लेकिन जब आप 'रियलिज्म' पर बल देते हैं तो इसी तरह का रिडक्शनिज्म होता है। उसका परिणाम व्यवहार में क्या होता है? यथार्थवादी जार्ज लुकाच ने आधुनिकतावाद के नाम पर या उस दायरे में समूचे साहित्य और समूची कला को पतनशील पूँजीवादी व्यवस्था के साथ जोडा और उसमें उन्होंने काफ्का को खारिज किया, पिकासो की सारी कलाकृतियों को व्यर्थ समझा, ब्रेष्ट को भी खारिज किया।"[13]

'टाइप' के आधार पर लुकाच ने यथार्थ की जो व्याख्या की, वह अपर्याप्त है; किंतु समाजवादी-यथार्थवादी दृष्टि के जिन खतरों की तरफ उन्होंने ध्यान खींचा है वे प्रासंगिक है। उन्होंने मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र पर लगाए गये आरोपों का स्पष्टीकरण भी प्रस्तुत किया है।

---

13. सं. समीक्षा ठाकुर : कहना न होगा, पृ.196

मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्रीय चिंतन के क्षेत्र में नई कडियाँ जोडने वाले कतिपय और उल्लेखनीय नाम भी है। अर्नस्ट फिशर और रेमण्ड विल्यम्स ने मार्क्सवाद की बुनियादी अवधारणओं को संशोधित करने का प्रयास किया। उन्होंने मार्क्सवादी कला-चिंतन को जडवादी दायरे से निकालने का प्रयास किया। अन्तोनियो ग्राम्शी ने आधार और बाह्य संरचना की अवधारणा की बुनियाद पर अपनी 'प्रभुत्व की अवधारणा' को प्रस्तुत किया। अर्नस्ट फिशर की वस्तु और रूप की व्याख्या, दोनों के एकात्म को आदर्श मानते हुए भी वस्तु तत्व की मुख्य भूमिका को स्वीकार करती है।

स्पष्ट है कि मार्क्सवादी कला दृष्टि एक विकासशील कला दृष्टि है, जिसमें समय के साथ नई-नई कडियाँ जुडी हैं। विचारकों तथा रचनाकारों की अनेक पीढियों ने उसे समृद्ध किया है।

हिन्दी में प्रगतिवादी साहित्य के प्रस्थान बिंदु

सन् 1935 में भारतीय अंग्रेजी लेखक मुल्कराज आनंद ने लंदन में 'इंण्डियन प्रोग्रेसिव राइटेर्स असोसियेशन' की स्थापना की। उन्होंने संघ की ओर से 'न्यू इंडियन लिट्रेचर' नामक पत्रिका निकाली। भारतीय साहित्य के प्रति उनका रूख पूरी तरह नकारात्मक था। मुल्कराज आनंद ने 'ऑन द प्रोग्रसिव राइटर्स मूवमेंट' नामक जो लेख लिखा उसके आधार पर डॉ रामविलास शर्मा लिखते हैं- "मुल्कराज आनंद ने भारतीय भाषाओं और भारतीय साहित्य के प्रति निषेधात्मक रवैया अपनाया था। वे तुलसीदास से ही अपरिचित नहीं थे, वे प्रेमचंद के युगान्तरकारी महत्व से भी एकदम अनभिज्ञ थे। वे हिन्दी-उर्दू के विकास, उनके अलगाव के कारणों से भी अपरिचित थे। वे नागरी

लिपि की जगह रोमन लिपि के माध्यम से भारतीय किसानों को साक्षर बनाने, उनमें लोकप्रिय साहित्य का प्रसार करने की योजनायें बना रहे थे। वे अपने व्यवहार में सभी भारतीय भाषाओं पर अंग्रेजी का प्रभुत्व कायम रखने में सहायता कर रहे थे।''[14]

लंदन में 'प्रोग्रसिव राइटर्स असोसियेशन' की स्थापना के एक वर्ष बाद सन् 1936 में प्रेमचंद ने लखनऊ में 'अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' की अध्यक्षता की। प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन देश व्यापी आन्दोलन था। मार्क्सवाद उसका आधार था। इस आंदोलन के आविर्भाव के कारणों पर प्रकाश डालते हुए डॉ. शर्मा लिखते हैं- 'प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन हमारे साहित्य और समाज की आवश्यकताओं से उत्पन्न हुआ था। इसलिए उसने बहुत जल्दी एक व्यापक रूप धारण कर लिया। साथ ही वह विश्व के फाशिस्त विरोधी आंदोलन का एक अंग था। उन दिनों नाजी जर्मनी महायुद्ध की घनघोर तैयारियों में लगा हुआ था। चीन पर जापानी साम्राज्यवादियों ने आक्रमण कर दिया था। युद्धवादी शक्तियाँ अपने देश की सांस्कृतिक शक्तियों को कुचल कर प्रगतिशील पुस्तकों की होली जलाकर फाशिस्त-विरोधी लेखकों को अनेक यातनायें देकर खूनी आतंक कायम कर रही थी। युद्ध की तैयारी के कारण मानवता का भविष्य संकट में था; मनुष्य ने अपने सुदीर्घ विकास में जो मानव मूल्य संचित किये थे, लगता था कि वे मिटने को हैं। भारत के लेखकों की सहज सहानुभूति महायुद्ध का विरोध करने वालों और शांति की रक्षा के लिये संघर्ष करने वालों के प्रति थी। अप्रैल सन् 36 में प्रेमचंद ने 'हंस' में लेखकों की क्रांतिकारी भूमिका के

---

14. डॉ. रामविलास शर्मा- मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृ. 377

बारे में लिखा था, "आज युद्धवाद से लडनेवाले कौन लोग है? यही अदीब। ऐसी कौन सी क्रांति है जिसका बीजारोपण अदीबों ने न किया हो?" भारत के प्रगतिशील लेखकों ने दूसरे महायुद्ध का विरोध करके विश्वमानवता का साथ दिया, अपने साहित्य की मानववादी परंपरा को सक्रिय रूप से निबाहा।"[15]

यह उल्लेखनीय है कि प्रेमचंद के अध्यक्षीय भाषण में उपयोगितावादी दृष्टिकोण की हिमायत तो है पर कहीं भी मार्क्स के सिद्धान्तों की चर्चा नहीं है। गैर मार्क्सवादी लेखकों में प्रेमचंद के अलावा प्रसाद, निराला, पंत, उग्र आदि अनेक महत्वपूर्ण लेखक अपने साहित्य में नयी सामाजिक चेतना का परिचय देने लगे। प्रगतिवाद को एक व्यापक साहित्यिक आंदोलन का रूप प्राप्त हुआ जिसके अंतर्गत मार्क्सवादी और गैर मार्क्सवादी लेखक दोनों शामिल थे।

हर साहित्यिक आंदोलन अपने साथ एक विशिष्ट प्रकार की समीक्षा प्रणाली भी कालक्रम के साथ विकसित करता है। एक साहित्यिक आंदोलन के रूप में प्रगतिवाद अपने समालोचना साहित्य को लेकर ही परिपूर्ण बनता है। रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, नामवर सिंह, चंद्रबली सिंह, अमृतराय, प्रकाशचंद्र गुप्त, मुक्तिबोध, त्रिलोचन, राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव आदि की कृतियों तथा तत्कालीन पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित प्रगतिशील लेखक संघ के घोषणा पत्रों तथा साहित्यिक विवादों के माध्यम से प्रगतिशील समीक्षा का सही रूप देखा जा सकता है। प्रगतिवादी विचारधारा की वाहक पत्र पत्रिकाओं पर प्रकाश डालते हुए डॉ. कृष्णलाल हंस लिखते हैं- "हिन्दी में प्रगतिवादी विचारधारा को लेकर बाबू प्रेमचंद के संपादकत्व में 'हंस' प्रकाशित हो ही रहा था, जो श्री. शिवदान सिंह चौहान के संपादक होने पर पूर्ण

---

15. डॉ. रामविलास शर्मा : मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृ.244

रूप से प्रगतिवादी पत्र बन गया। इसके अतिरिक्त पं. सुमित्रानन्दन पंत और नरेन्द्र शर्मा द्वारा संपादित 'रुपाभ' तथा आचार्य नरेन्द्र देव, प्रेमचंद एवं सम्पूर्णानन्द के संयुक्त संपादकत्व में प्रकाशित 'जागरण' से प्रगतिवादी आंदोलन को महत्वपूर्ण योग प्राप्त हुआ तथा इनके माध्यम से अनेक प्रगतिवादी लेखक एवं कवि अपनी महत्वपूर्ण रचनाओं को लेकर हिन्दी जगत में अवतरित हुए जिनमें डॉ. रामविलास शर्मा, प्रकाशचंद्र गुप्त, रांगेय राघव, केदारनाथ अग्रवाल, नरेन्द्र शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, अमृतराय आदि प्रमुख थे।"[16]

छायावादी लेखकों ने भी आलोचना के क्षेत्र में कतिपय विचार रखे हैं, लेकिन उनमें साहित्य संबंधी सुव्यवस्थित सिद्धांतों का अभाव है। प्रगतिवादी आलोचकों ने व्यावहारिक और सैद्धांतिक समीक्षा द्वारा साहित्य को बदलने और विकसित करने मैं नेतृत्व किया। उनका स्पष्ट विचार है कि साहित्य का मुख्य उद्देश्य जनता को संघर्ष केलिए शक्ति देना है और उस संघर्ष में विजय प्राप्त करके मुक्त होने केलिए मार्ग दिखाना है। प्रगतिवादी समीक्षा का अत्यंत महत्वपूर्ण निष्कर्ष है कि श्रेष्ठ रचना करने केलिए साहित्यकार को अनिवार्य रूप से जनता का पक्षधर होना पडेगा। नामवर जी के शब्दों में "उसका (प्रगतिवादी समीक्षा का) कहना है कि लेखक में शक्ति जनता से आती है, जनता के साथ उसका संबंध जितना ही घनिष्ठ होगा उसमें उतनी ही रचनाशक्ति आती है, उसकी रचना में उतना ही अधिक सौंदर्य बढता है। इसके विपरीत ज्यों ही लेखक अपने इस अक्षय स्रोत से हट जाता है उसकी सारी शक्ति जवाब दे देती है। हिरण्यकश्यप की तरह उसकी मृत्यु तभी होती है जब उसका पाँव धरती से उठ जाता है।"[17]

---

16. डॉ. कृष्णलाल हंस : प्रगतिवादी काव्य-साहित्य, पृ.24
17. डॉ. नामवर सिंह : आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ.88

डॉ. नामवर सिंह के पूर्ववर्ती प्रमुख मार्क्सवादी आलोचकों की समीक्षा दृष्टि

डॉ. रामविलास शर्मा

डॉ. शर्मा मानते हैं कि काव्य का मूल स्रोत जीवन है। उसमें कवि हृदय की व्यक्तिगत भावना की प्रधानता नहीं होती। काव्य की भावधारा का केन्द्र स्वयं कवि नहीं, पर जनता होती है। 'संस्कृति और साहित्य' में उनकी यह मान्यता स्पष्ट होती है कि अभी हमारा इतिहास बन रहा है, उसका विकास हो रहा है। जब किसी सार्वभौम और शाश्वत सामाजिक व्यवस्था का निर्माण नहीं हुआ है, तब साहित्य ही किस प्रकार सार्वभौम और शाश्वत हो सकता है। डॉ. शर्मा सौंदर्य और उसकी समाज सापेक्ष सत्ता का निरूपण करते हुए लिखते हैं- "सौंदर्य बोध एक संश्लिष्ट इकाई है। सौंदर्य प्रकृति में भी है, मनुष्य में भी, उसकी अनुभूति व्यक्तिगत होती है, समाजगत भी। व्यक्ति समाज का अंग है इसलिए न तो समाज निरपेक्ष व्यक्ति की सत्ता होती है, न समाज निरपेक्ष सौंदर्यानुभूति की संभावना होती है। सामाजिक विकास से सम्बद्ध कला के अनेक तत्व जहाँ आर्थिक जीवन पर निर्भर होते हैं, उनका स्पष्ट वर्गाधार होता है, वहाँ अनेक तत्व अपेक्षाकृत स्थायी होती है।"[18] वे रस में स्थायी भावों की स्थिति तो स्वीकार करते हैं किंतु व्याप्ति को द्वन्द्वात्मक और विकासमान मानते हैं। वे काव्य का उद्देश्य मनोरंजन नहीं वरन् जनता की उन्नति करना मानते हैं।

डॉ.शर्मा की व्यवहारिक समीक्षा भी मूलत: मार्क्सवादी आदर्शों पर आधारित है। वे कवि और लेखक ही उन केलिए विवेच्य है जिनकी कृतियों में जनवादी तत्वों की प्रधानता रही। इस दृष्टि से आधुनिक हिन्दी साहित्य के अंतर्गत निराला, प्रेमचंद और आचार्य शुक्ल उन्हें सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रतीत हुए।

---

18. डॉ. रामविलास शर्मा : संस्कृति और साहित्य, पृ.89

श्री.शिवदान सिंह चौहान

1937 में प्रकाशित 'हिन्दी में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' विषयक चौहान जी का निबंध प्रगतिवाद के संबंध में प्रथम महत्वपूर्ण वक्तव्य कहा जाता है। उसमें वर्तमान साहित्य को पूँजीवादी प्रवृत्ति का परिणाम कहकर हिन्दी में मार्क्सवादी आदार्शों के विवेचन का पहली बार प्रयत्न किया गया था। मुख्य रूप से सन् 1951 और सन् 1955 के बीच लिखित अपने निबंधों के संकलन 'साहित्य की समस्यायें' में उन्होंने अपने आलोचनात्मक सारोकारों को स्पष्ट किया है। महान और श्रेष्ठ साहित्य के मूल्यांकन में आलोचनात्मक विवेक की आवश्यकता को रेखांकित करते हुए वे लिखते हैं- "श्रेष्ठ साहित्य की रचना या उसके मूल्यांकन के मार्ग में यदि किसी प्रकार के मतवाद- अतिवाद, गैर जिम्मेदार दृष्टिकोण या परिस्थितियाँ बाधक बनी हैं तो यह हमें गवारा नहीं हुआ है और हमने उसके विरुद्ध खुलकर प्रतिवाद किया है। साहित्य चिंतन में सत्य और विवेक को प्रतिष्ठित करना मेरे निबंधों का उद्देश्य है।"[19]

स्वाधीन भारत में साहित्य के मान-मूल्यों का सवाल उठाते हुए शिवदान सिंह चौहान व्यक्तिवाद और कुंठित मानव की प्रतिष्ठा के स्थान पर 'पूर्ण मानव' की प्रतिष्ठा पर बल देते हैं। उन्होंने 'साहित्य की परख' नामक निबंध में अनेक ऐसी स्थापनायें की हैं जिनके कारण विवाद शुरु हुए। आलोचक के दायित्व के रूप में संस्कृति की रक्षा के सवाल से आगे जाकर वे संस्कृति के निर्माण की चर्चा करते है। नई संस्कृति की व्याख्या वे जनवादी संस्कृति के रूप में करते हैं और उसे समाजवाद के अंतिम लक्ष्य के रूप में व्याख्यायित करते हैं। 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' में हिन्दी साहित्य के इतिहास की आधार सामग्री और मूल ढाँचे की चर्चा चौहान जी ने की है।

---

19. डॉ. शिवदान सिंह चौहान : साहित्य की समस्याएँ, भूमिका

मार्क्सवादी आलोचना सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में डॉ. नामवर सिंह के साहित्य की प्रत्यालोचना

डॉ. नामवर सिंह की आलोचना यात्रा पृथ्वीराज रासो से लेकर समकालीन साहित्य तक निरंतर गतिमान है। वे एक अन्वेषक और शोधार्थी की भाँति प्राचीन साहित्य की प्रगतिशीलता को खोजते और विश्लेषित करते हैं। मार्क्सवादी दृष्टि से समकालीन कविता व कहानी का मूल्यांकन, समसामयिक आलोचना के क्षितिज पर उनकी उपस्थिति को अपराजेय बनाता है। आलोचक के रूप में अपनी परंपरा को स्पष्ट करते हुए नामवर जी ने कहा है- "जैसे रचना के क्षेत्र में हर सार्थक रचनाकार कहीं न कहीं अपने लिए एक परंपरा ढूँढता है, चिंतन के क्षेत्र में भी अपने लिए एक परंपरा ढूँढने की जरूरत आलोचक को महसूस होती है। हिंदी में यह उल्लेखनीय बात है कि इस परम्परा को खोजने, ढूँढने और उससे अपने आप को जोडने का काम गैर-मार्क्सवादी आलोचकों की अपेक्षा मार्क्सवादी आलोचकों ने ज्यादा किया है। इसका श्रेय सबसे ज्यादा डॉ. रामविलास शर्मा को दिया जाना चाहिए। रामचंद्र शुक्ल पंडिताऊ आलोचक समझे जाते थे। रामविलास शर्मा ने उन्हें ऐसे लोकवादी के रूप में उपस्थित किया कि लगा कि प्रगतिशील लेखक शुक्ल जी से अपने आप को जोडकर लाभान्वित हो सकते हैं। आज यदि मलयज जैसे आलोचक शुक्ल जी की ओर आकृष्ट हो रहे हैं तो कहीं न कहीं इसका श्रेय डॉ. रामविलास शर्मा को हैं। अपनी कहूँ तो काशी का होने तथा काशी हिन्दु विश्वविद्यालय में पढने के कारण शुक्ल जी मुझे एक तरह से साहित्यिक संस्कार के रूप में प्राप्त हुए और मुझे शुरु से उनसे सीखने-जूझने की जरूरत महसूस हुई; फिर भी यह स्वीकार करूँगा कि डॉ. रामविलास शर्मा की शुक्ल जी वाली

पुस्तक ने आचार्य के ऐसे अनेक लोकवादी पक्षों को प्रस्तुत किया जिनकी ओर मेरा ध्यान न गया था। वैसे डॉ. शर्मा की इस व्याख्या में अनेकत्र अतिसरलीकरण भी है। मेरा यह परम सौभाग्य है कि आचार्य द्विवेदी मुझे गुरु के रूप में प्राप्त हुए। किंतु यदि किन्हीं कारणों से ऐसा न भी हुआ होता, तो भी एक मार्क्सवादी आलोचक के नाते अपनी परंपरा की खोज में मैं शुक्ल जी से चलकर द्विवेदी जी तक पहुँचता ही। आचार्य द्विवेदी के बाद हिन्दी आलोचना में मुझे एक ही उल्लेखनीय नाम दिखाई पडता है, वह है डॉ. रामविलास शर्मा का। मैं ने उनसे भी बहुत कुछ सीखा है। यहाँ तक कि अपनी भूलों द्वारा भी वे सहीं रास्ते पर आगे बढने का संकेत देते हैं।

इन तीनों आलोचकों की परंपरा से जुडने के क्रम में ही मैं प्राचीन काव्य-शास्त्र की ओर बार-बार जाता रहा। और दिन पर दिन मैं ने यह अनुभव किया कि अपने देश की यह महान परंपरा मार्क्सवादी आलोचना केलिये अक्षय संदर्भ स्रोत है।"[20]

हिन्दी में शुक्ल-द्विवेदी-शर्मा की आलोचनाएँ उनके लिये परंपरा की अहमियत रखती है तो पश्चिम में विकसित होनेवाली मार्क्सवादी आलोचना में भी वे अपनी परंपरा देखते हैं जिसमें मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, ग्राम्शी, लुकाच और वाल्टर बेन्जामिन विशेष उल्लेखनीय नाम है। प्रसंगवश उनके साहित्य में उपर्युक्त नामों का उल्लेख मिलता है लेकिन विश्लेषण से असंबद्ध होकर सिद्धांतों की दुहाई देने की प्रवृत्ति नामवर जी को स्वीकार्य नहीं है। वे मार्क्स या लेनिन के प्रमाण को आलोचना के प्रामाणिक होने की गारंटी नहीं मानते। सामान्य सिद्धान्त निरुपण के लिए वे कृति के मूल्यांकन की ओर प्रवृत्त नहीं होते। नामवर जी की पुस्तकाकार प्रकाशित रचनाओं में एक दोहरा संघर्ष

---

20. सं. समीक्षा ठाकुर : कहना न होगा, पृ.29

देखा जा सकता है। कहीं वे नई कविता में बढती जडीभूत सौंदर्यानुभूति का विरोध करते हैं तो कहीं मार्क्सवादी आलोचना में प्रक्षिप्त स्थूल समाज शास्त्रीयता का। उनके इस दोहरे संघर्ष के कारण आलोचकों ने उनमें अन्तर्विरोध देखा है और 'अवसरवादिता' का आरोप लगाया है। परंतु नामवर जी के लेखन को तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों के परिप्रेक्ष्य में देखें तो स्पष्ट है कि उस दौर की आवश्यकता यही थी।

कला और विचारधारा

स्थूल एवं कट्टर मार्क्सवादियों द्वारा स्वीकृत विचारधारा की संकीर्ण समझ से डॉ. नामवर सिंह का कोई सारोकार नहीं है। उनकी विविध रचनाओं से उनकी मान्यता स्पष्ट होती है कि विचारधारा कला में आरोपित नहीं होनी चाहिये, वरन् कला के साथ उसका इस प्रकार का एकात्म होना चाहिये कि वह अपने पूरे प्रभाव के साथ विद्यामान होते हुए भी कलाकृति के सौंदर्य नियमों का अतिक्रमण न करे।

छायावादी काव्यधारा का विरोध अनेक आलोचकों ने इस आधार पर किया कि उसमें राष्ट्रीय जागरण को अभिव्यक्ति नहीं मिली। युग धर्म की उपेक्षा करने के कारण उसे पलायनवादी कहा गया। नामवर जी ने छायावाद संबंधी अपने विवेचन से यह स्पष्ट किया कि छायावाद पर राष्ट्रीय जागरण का स्पष्ट व प्रत्यक्ष प्रभाव यदि प्रतीत नहीं होता तो यह छायावाद का कोई अपराध नहीं है। "कविता राजनीतिक और सामाजिक घटनाओं का अविकल अनुवाद नहीं हैं। विविध राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक घटनाएँ मानव-व्यक्ति के मन पर जो सम्मिलित प्रभाव डालती हैं, कविता उसकी भावात्मक प्रतिक्रिया है। काव्य में अभिव्यक्त अनुभूति इतनी संश्लिष्ट होती है कि

उसमें से राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक इत्यादि तत्वों का विश्लेषण सरलता से नहीं किया जा सकता। किसी गीत की व्यथा का मूलस्रोत कौन सी सामाजिक घटना है, यह उस गीत में उतराती नहीं फिरती जो चट से छनकर हथिया ली जाये। साहित्य अंतत: साहित्य ही है- वह परिस्थितियों के सहित अथवा सम्मिलित प्रभाव की अभिव्यंजना है। साहित्य मानव के संपूर्ण व्यक्तित्व की वाणी है; अभिव्यक्त जीवन की इकाई का प्रतिबिंब है।"[21] उपर्युक्त उद्धरण छायावादी साहित्य से संबंधित है किंतु वह मार्क्सवादी दृष्टि से किसी भी काल विशेष के साहित्य की समीक्षा करने वालों के लिए प्रासंगिक है।

वामपंथी लेखकों को नामवर जी सचेत करते हैं कि मार्क्सवाद केवल एक राजनीतिक सिद्धांत नहीं, बल्कि एक विश्वदृष्टि है। राजनीति, निश्चय ही उसका एक महत्वपूर्ण पक्ष है। समानधर्मा राजनीतिज्ञों के अनुभवज्ञान से लाभ उठाना तो ठीक है किंतु सृजनशील साहित्यकार के पास एक विश्वदृष्टि होनी चाहिए। "वास्तविकता के विषय में अभूतपूर्व अंतर्दृष्टि देकर ही अनेक मनोगत विश्वदृष्टि वाले लेखक भी हमें अभिभूत करते हैं और अपनी रचना पढने के लिये बाध्य करते हैं। इसलिए वामपंथी लेखन का भी प्रयास यही होना चाहिए कि उसके दुश्मन और विरोधी भी वास्तविकता में अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने केलिए उसकी रचना पढने को विवश हो। यह तभी संभव है जब रचना इतनी वास्तविक और कलात्मक हो कि पढनेवाला यह कहने के लिये बाध्य हो कि उसकी विचारधारा तो नापसंद है पर कम्बख्त लिखता खूब है।"[22]

विचारधारा जब कला पर हावी होती है तो साहित्य पर उसके कुप्रभाव अनेक स्तरों पर होते हैं। जनता अथवा सर्वहारा को हर हाल में गौरवान्वित करना इसका एक

---

21. डॉ. नामवर सिंह : छायावाद, पृ.71
22. डॉ. नामवर सिंह : वाद विवाद संवाद, पृ.53

पहलू है। नामवर जी जनता के प्रशस्ति गान को 'रोमांटिक भाववाद का अनर्गल उच्छवास' मानते हैं, मार्क्सवाद नहीं। अंधलोकवाद हमें सुगम, लोकप्रिय साहित्य की ओर उन्मुख करता है। जनता की रुचि और समझ का अवमूल्यन लेखक को जटिलता और प्रयोगों से दूर रखता है। व्यवस्था विरोध पर बल देने के कारण वामपंथी लेखन में नकारात्मक रुख ही प्रधान होता है। इस प्रक्रिया में लेखक शासक वर्ग के साहित्य के विकल्प में एक उच्चतर साहित्य का प्रतिमान प्रस्तुत करने के अपने ऐतिहासिक दायित्व को विस्मृत कर देता है। कला और विचारधारा के संबंध में नामवर जी के विचारों का सार इस वक्तव्य में स्पष्ट होता है- "मार्क्स ने यह कहीं नहीं कहा कि साहित्य और कला इस्तेमाल की चीज हैं। मार्क्स की दृष्टि में उनका कला मूल्य है। पहले यह बात भी स्पष्ट नहीं थी कि विचारधारा और साहित्य का संबंध ठीक-ठीक क्या है। सही अर्थों में विचारधारा क्या है?- पिछले 20-25 वर्षों में इस पर विचार हुआ है और यह भी सवाल उठा है कि साहित्य और कला को विचारधारा के अंतर्गत माना जाना चाहिए या नहीं। अनेक मार्क्सवादी लोगों ने कहा कि साहित्य और कला को विचारधारा के अंतर्गत मानना उचित नहीं है। खुद मार्क्स और लेनिन मानते हैं कि बालजाक और तोलस्तोय की विचारधारा जो भी हो, वे महान लेखकहैं। प्राचीन रचनाकारों को हम उनकी विचारधारा के बावजूद बडा रचनाकार मानते हैं। लेकिन जब समकालीन लेखकों का सवाल उठता है तो हम उनकी विचारधारा को मापते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि कोई अपनी विचारधारा के बावजूद श्रेष्ठ साहित्य की रचना कर सकता है।"[23]

नामवर जी साहित्य और कला की सापेक्षिक स्वायत्तता के भी पक्षधर हैं। मार्क्स ने ग्रीक महाकाव्यों का उल्लेख करते हुए स्वीकार किया है कि सामाजिक विकास और

---

23. सं. समीक्षा ठाकुर : कहना न होगा, पृ.139

साहित्यिक विकास में कार्यकारण संबंध या सीधा यांत्रिक संबंध नहीं होता। एंगेल्स का कहना है कि जर्मन समाज की तत्कालीन स्थिति के विरुद्ध विद्रोह की आवाज उठाने में ही गेटे और शिलर की महानता है। नामवर जी मानते है कि सामाजिक ह्रास के युग में श्रेष्ठ साहित्य तभी रचित हो सकता है जब लेखक में सामाजिक संकट के प्रति असंतोष का बीज हो। इस असंतोष को लोकजीवन से बल मिलता है और भक्तिकाल में संतों के साहित्य में वे लोक जीवन के इस बल को पहचानते हैं। उल्लेखनीय है कि समाज से जुडकर, उसके प्रति प्रतिबद्ध होकर लिखते हुए भी उस समाज के विषाक्त वातावरण का चित्रण आवश्यक नहीं है। सामाजिक संकट के घातक प्रभाव को वे स्वीकार करते हैं फिर भी उनका मानना है- "ह्रास युग में भी श्रेष्ठ साहित्य इसलिए संभव होता है कि संपूर्ण मानव समाज का एक साथ ह्रास नहीं हो जाता; विकास का बीज ह्रास के तल में कहीं न कहीं मौजूद रहता है। विकास का यह बीज सामान्यत: जनता के जीवन में होता है। ह्रास युग के श्रेष्ठ साहित्य की श्रेष्ठता का स्रोत यही लोक जीवन है।"[24] स्पष्ट है कि साहित्य की समाज सापेक्ष स्वायत्ता ही नामवर जी को स्वीकार्य है।

साहित्य और समाज

नामवर जी मार्क्सवादी विचार पद्धति से साहित्य और समाज के अन्योन्याश्रित संबंध को स्पष्ट करते हैं। इसके लिये वे उस विचारधारा का तीव्र विरोध करते हैं जिसके अनुसार साहित्य की श्रेष्ठता का सारा श्रेय लेखक की प्रतिभा को दिया जाता है। ऐसे साहित्यकार वास्तव में अपनी शक्ति के वस्तुगत स्रोत का निषेध करते हैं।

---

24. डॉ. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ.35

नामवर जी मानते हैं कि यह 'प्रतिभा' एक निश्चित परिस्थिति और परंपरा की उपज होती है। लेखक की विशेषता उस परिस्थिति को ठीक से समझने और समझकर बदलने में है। एक ही परिस्थिति में रहने पर भी दो लेखकों की लोकप्रियता में अंतर देखा जाता है, इसका कारण है उसके व्यक्तिगत संबंधों की विविधता, घनिष्ठता और जटिलता। परिस्थिति के सभी तत्व व्यक्तित्व में साधक नहीं होते। बाधक तत्वों को समाप्त करने केलिये प्रयत्नशील लेखक ही सफल होता है। नामवर जी लिखते है- "व्यक्तित्व विरोधी तत्वों से लडने में लेखक अकेला नहीं है- उनकी समझदारी इस बात में है कि अपनी सहयोगी जनशक्ति को पहचान ले। जनशक्ति का सहयोग न लेनेवाला लेखक जल्द ही टूट जाता है। संघर्ष से छिटकी चिंगारी भी जलने के लिये तिनके का सहारा चाहती है और सहारा न मिलने पर बुझ जाती है। अकेला लेखक दियासलाई की उस सलाई की तरह है जो टकराकर थोडी देर तो जलती है लेकिन आधार के अभाव में बुझ जाती है।"[25]

लेखक का व्यक्तित्व समाज और साहित्य के बीच महत्वपूर्ण कडी है। व्यक्तित्व की विशिष्टता के स्पर्श से साहित्य विशिष्ट हो जाता है। श्रेष्ठ रचना समाज को महत्तर बनाती है, लेखक की मानसिक और आध्यात्मिक सत्ता को भी समृद्ध करती है। साहित्य में यदि कहीं समाज की छाया बिगडी हुई प्रतीत होती है तो इसका कारण भी लेखक का व्यक्तित्व हैं। इसका विश्लेषण करते हुये नामवर जी लिखते हैं- "लेखक अपने समाज को ज्यों का त्यों देख लेने के लिये चाहे जितनी कोशिश करे लेकिन उसकी दृष्टि की एक सीमा होती है; उसकी ईमानदारी के बावजूद रचना में

---

25. डॉ. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ.42

समाज का चित्र कुछ न कुछ बदल ही जाता है। संकीर्ण दृष्टि वाले लेखकों का सामाजिक चित्र संकीर्ण होता है और रहस्यवादी दृष्टि वाले लेखक का चित्र रहस्यात्मक अर्थात् अस्पष्ट। इनके विपरीत व्यापक और पैनी दृष्टिवाले सहृदय समझदार लेखकों द्वारा प्रस्तुत चित्र अधिक से अधिक वास्तविक होता है। और हीगेल के शब्दों में, जो वास्तविक होता है वही विवेकपूर्ण होता है और जो विवेकपूर्ण होता है वही वास्तविक होता है।"[26]

समीक्षा के क्षेत्र में किसी कृति का वास्तविक मूल्यांकन उसमें निहित सामाजिक यथार्थ के विश्लेषण द्वारा ही संभव है। सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों का उल्लेख पहले करना और बाद में साहित्यिक प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करने का तरीका गलत है। नामवर जी मानते हैं कि यह 'अधपकी दाल' के समान है जिसमें दाल और पानी अलग अलग रहते हैं। वे लिखते हैं- "सही तरीका यह है कि साहित्यिक कृति के सामाजिक यथार्थ के विश्लेषण के सिलसिले में यथास्थान अन्य साधनों द्वारा प्राप्त सामाजिक सामग्री का उपयोग किया जाये। ऐतिहासिक भौतिकवाद यही सिखलाता है।"[27]

साहित्य और समाज के संबंध में भाववादी इतिहासकारों की दृष्टि ही त्रुटिपूर्ण है। वे साहित्य को सामाजिक घटनाओं का अनुवाद समझते हैं। यह गलती आर्यसमाजी एवं किताबी मार्क्सवादियों में समान रूप से देखी जा सकती है। नामवर जी की दृष्टि में साहित्य अनुकृति नहीं, बल्कि रचनात्मक कृति है। साहित्यिक

---

26. डॉ. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ.44
27. वही, पृ.144

कृति जितनी श्रेष्ठ होती है, उसमें वास्तविकता की रचनात्मक शक्ति उतनी ही अधिक होती है तथा अनुकृति उतनी ही कम। ऐसी रचनाओं में सामाजिक यथार्थ का विश्लेषण अत्यंत कठिन कार्य है। 'मनुष्य' साहित्य का रचयिता तो है ही, वही साहित्य की वर्ण्य-वस्तु भी है। वह एक पात्र होने के साथ ही समस्त सामाजिक संबंधों के साथ आता है। नामवर जी लिखते हैं- "जो लोग 'रामचरित मानस' के राम-रावण युद्ध को तत्कालीन हिन्दु -मुस्लिम संघर्ष के रूप में चित्रित करते हैं तथा सीता-हरण को हिन्दुस्तान की धरती का अपहरण बतलाते हैं वे 'मानस' में बिंबित सामाजिक संबंधों को गहराई से नहीं देखते। मानस के राम, भरत, कैकेयी, वशिष्ट आदि उस युग की पारिवारिक, धार्मिक आदि अनेक संस्थाओं के गूढ संबंधों की ओर संकेत करते हैं।"[28]

'ऐतिहासिक भौतिकवादी' दृष्टिकोण से नामवरजी का विचार है कि सामाजिक संबंध मूलत: उत्पादन संबंन्ध है और यह संबंध समस्त सामाजिक संस्थाओं के ढाँचे को निर्धारित करता है। इस संबंध को जानकर इतिहास की व्याख्या करना और परिवर्तन का विधान करना इतिहासकार का मुख्य कर्तव्य है। साहित्कार और उसके कथापात्र, दोनों ही व्यक्ति भी होते हैं और सामाजिक वर्ग भी। 'विशेष' और 'सामान्य' के इस सिद्धान्त को प्रेमचंद के 'गोदान' के माध्यम से नामवर जी समझते हैं- "होरी व्यक्ति के साथ भारतीय किसान का प्रतिनिधि भी है; वह विशेष होने के साथ 'सामान्य' भी है। उसकी 'विशेषता' में सजीवता है और 'सामान्यता' में व्यापक अपील। होरी के इन दोनों रूपों को समझना ही 'गोदान' की सच्ची आत्मा को समझना है।"[29] उपर्युक्त विचार हंगेरियन मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्री जॉर्ज लुकाच के विचारों से मेल खाते है।

---

28. डॉ. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ.146
29. वही, पृ.147

उन्होंने भी 'यथार्थ' की कसौटी 'टाइप' चरित्र को माना है। यह 'टाइप' औसत का पर्यायवाची न बनकर, 'विशेष' और 'सामान्य' का समन्वय, 'चरित्र' और 'घटना' दोनों में करता है।

नामवर जी साहित्यकार को 'वर्ग विशेष का गायक' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि साहित्यकार जिनके लिये लिखता है, वे निस्संदेह उसकी रचना को प्रभावित करते हैं। जनसाधारण के लिये लिखा गया साहित्य, दरबार के विशिष्ट लोगों के लिये लिखे गये साहित्य से भिन्न होगा। इसके सिवा प्रयोजन से भी साहित्य निर्धारित होता है। रोजी के लिये लिखे गये साहित्य और 'स्वान्त: सुखाय' लिखे गये साहित्य में आदर्श भिन्न होते हैं। नामवर जी अपने विश्लेषण से समाज और साहित्य के परस्पर संबंध को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं- "साहित्य से समाज का संबंध कुछ कुछ वही है जो धरती से फूल का है। फूल धरती से उत्पन्न होता है, इसका मतलब यह नहीं है कि उसके डाल, पात, पंखडी, वर्ण, गंध आदि मिट्टी के हैं, कि उससे मिट्टी की सी सोंधी गंध आती है और रंग भी मटमैला होता है। धरती का रूप रस फूल में नया वर्ण, उत्पन्न करता है। इस तरह साहित्य में भी समाज ज्यों का त्यों नहीं झलकता बल्कि रूपान्तरित रूप में अंतर्निहित रहता है।"[30]

वस्तु और रूप

मार्क्सवाद के अंतर्गत कला और साहित्य के लिये वस्तु तत्व पर अत्यधिक बल दिया गया है। साहित्य में सौद्देश्यता को अनिवार्य माना गया है। प्रेमचंद जी ने भी साहित्यकारों से सोद्देश्य साहित्य की ही माँग की थी। "जिस साहित्य से हमारी

---

30. डॉ. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ.147

सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौंदर्य प्रेम न जागृत हो- जो हमें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहलाने का अधिकारी नहीं।"[31] उन्होंने स्पष्ट कहा है कि केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी सुनाना उसका लक्ष्य नहीं होना चाहिये बल्कि जीवन की समस्याओं पर उसे विचार करना चाहिये। स्पष्ट है कि सोद्देश्य साहित्य में वस्तु तत्व की स्थिति अत्यंत महत्वपूर्ण है। वस्तु से ही रूप तत्व का निर्माण भी होता है। मार्क्सवाद की संकीर्ण समझ रखने वालों ने रूप तत्व की उपेक्षा की और एकांगी दृष्टि से वस्तु मात्र का समर्थन किया है। रूप-तत्व, उनके अनुसार साहित्य में निष्क्रिय होता है। मार्क्सवाद के गंभीर कला विवेचकों ने यह प्रतिपादित किया है कि वस्तु महत्वपूर्ण है, उसी से रूप का निर्धारण होता है किंतु श्रेष्ठ साहित्य में रूप की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वस्तु और रूप की एकता और संगति ही आदर्श स्थिति है। अर्नस्ट फिशर की वस्तु और रूप संबंधी व्याख्या भी गहराई में जाकर उनका विश्लेषण करती है और दोनों के एकात्म को आदर्श मानते हुये भी वस्तु तत्व की मुख्य भूमिका को स्वीकार करती है। लूनाचरस्की ने रूपवाद के खतरे के प्रति समकालीन रचनाकारों तथा विचारकों को आगाह करते हुये भी उनसे रूप तत्व के प्रति कतई उपेक्षा न बरतने का आग्रह किया है।

कलात्मक सौंदर्य की प्राप्ति के लिये नामवर जी ने हिन्दी साहित्यकारों के सम्मुख स्पष्ट आदर्श प्रस्तुत करते हुये कहा- "रूप विधान पर विशेष बल देना गलत है। विषयवस्तु पर बल देना ही सही है।"[32] वे स्वीकार करते हैं कि सदैव रूपवादी

---

31. प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ.9
32. डॉ. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ.30

रचना में विचार का अभाव नहीं होता। उसमें स्वाभाविक रूप से किसी न किसी भाव या विचार का अनुबंध होता है लेकिन शिल्प को इतना महत्व दिया जाता है कि विचार की आंतरिक समृद्धि नहीं मिलती। 'रूपवाद' को स्पष्ट करते हुये नामवर जी लिखते हैं- "साहित्य की अभिव्यक्ति का माध्यम है भाषा। इसलिए साहित्य में कलात्मक सौंदर्य लाने के लिए उस माध्यम पर अधिकार प्राप्त करना आवश्यक है। लेकिन उस माध्यम को ही साध्य मानकर उसी की कारीगरी में सिमट जाना कोरा रीतिवाद अथवा रूपवाद है।"[33]

विषय-वस्तु की चर्चा करते हुये उन्होंने विषय-वस्तु पर बल देने का आशय भी स्पष्ट किया है। सिद्धांतों का अनुकथन साहित्य में वांछनीय नहीं है। भक्त कवियों ने अपने दार्शनिक सिद्धांतों को पद्यबद्ध किया है किंतु उनकी कीर्ति का आधार वह कविता नहीं है। इसी प्रकार कोरे मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रतिपादन हेतु रचित कथा-साहित्य को स्वयं उसके रचयिता भी हेय ही मानेंगे। इस स्थिति में यह भी स्मरणीय है कि व्यक्ति स्वातंत्र्य का नारा बुलंद करते हुये जब साहित्कार समाज को अपना दुश्मन मानता है तो उसका यह तरीका अराजकतावादी है। ऐसी रचना एकान्तिकता से अभिशप्त होती है। समाज से कटे हुये लेखक की रचना के विषय में नामवर जी कहते हैं- "यह फल के उस रस की तरह होती है जिसे सजीव फल से निचोडकर बोतल में बंद कर दिया जाता है। उस निचोडे हुये रस में भी मिठास होती है, लेकिन पल्लवों से सुशोभित छिलका, रेशा, गुठली वाले सजीव फल की शोभा और सरसता तो और ही है। साहित्य में ऐसी ही सुषमा और ऐसे ही रस की महिमा है। यह तभी संभव है जब साहित्यकार जीवन का

---

33. डॉ. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ.20

सक्रिय उपभोग करे और उस भोग की बाधक शक्तियों से संघर्ष करे तथा साधक शक्तियों के सुख-दुःख में भाग ले।"[34]

नामवर जी के लिये विषय-वस्तु पर बल देने का अर्थ है, यथार्थ जगत् के सत्य का पूर्ण और गहरा ज्ञान। साहित्यकार की मानवतावाद संबंधी धारणा भी स्पष्ट होनी चाहिये। अपने विषय-वस्तु संबंधी विवेचन के निष्कर्ष रूप में नामवर जी कहते हैं- "विषय-वस्तु पर जोर देने का सही अर्थ है मूर्त और ठोस रूप में युग सत्य को पहचानना और स्पष्ट रूप से मानव जयवाहिनी का पक्षधर होना।"[35]

प्रेमचंद के साहित्य को 'सतही' कहकर उसमें गहराई की कमी का आरोप लगाने वालों को जवाब देते समय नामवर जी अपनी इसी धारणा का प्रयोग करते हैं। परिमलवादियों का कहना था कि सामाजिक समस्याओं के लिये प्रेमचंद अत्यंत सरल समाधान प्रस्तुत करते हैं। सीधी रेखा या 'शार्टकट' में समस्याओं को सुलझाने वाले प्रेमचंद को वे सतही कहते हैं। उपर्युक्त आक्षेपों का विरोध करते हुये नामवर जी ने 'व्यापकता और गहराई' लेख लिखा और यह लेख प्रेमचंद का पक्ष ही नहीं लेता वरन् व्यक्तिवादी साहित्य पर सोद्देश्य साहित्य की श्रेष्ठता को प्रमाणित करता है। "प्रेमचंद की गहराई का भी यही रहस्य है कि वे चाहे नारी समस्या लें अथवा किसान समस्या, उसके विविध सूत्रों को वे उकेल के रख देते हैं। उन्होंने नारी की पराधीनता का चित्रण करते समाज के उन सभी वर्गों को उभारकर सामने ला दिया है जिनके कारण नारी पराधीन है। प्रेमचंद के सभी उपन्यासों में किसानों की मुक्ति का आंदोलन नारी

---

34. डॉ. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ.23
35. वही, पृ.26

स्वाधीनता के भाव से जुडा हुआ है। समाज की सर्वाधिक शोषित ये दो शक्तियाँ उनके उपन्यासों में एक साथ, एक तरह से चित्रित होती हैं।

वास्तविकता को स्तर स्तर पर उद्घाटित करने में प्रेमचंद का जवाब नहीं। 'गोदान' में होरी का साक्षात् शोषण कोई नहीं करता; फिरभी होरी तबाह रहता है; तबाह वह इसलिये है कि अपने शरीर में लगी हुई जोंकों को नहीं देख पाता। लेकिन प्रेमचंद ने उन सबका उद्घाटन इस तरह किया है कि होरी के बाद आने वाली पीढी इन्हें पहचान ले। प्रेमचंद ने इस उपन्यास में भारतीय समाज का 'एक्स रे' करके रख दिया है और इसी को कहते हैं साहित्यकार का उद्घाटन कार्य। सतह को इसीतरह तोडने का नाम गहराई है।''[36]

प्रेमचंद साहित्य संबंधी विवेचन में नामवर जी यदि वस्तु तत्व की आदर्श स्थिति का उद्घाटन करते हैं तो इससे निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिये कि 'रूप' उनके लिये उपेक्षणीय है। वे मानते हैं कि पाठकीय संवेदना पर वस्तु और रूप का मिला-जुला प्रभाव पडता है। रूप विन्यास कवि की अपनी सौंदर्य भावना का परिणाम होता है। द्विवेदी युगीन कविता की सादगी और अनलंकृति, तत्कालीन कवियों की शुद्धतावादी भावना का परिणाम है तो छायावादी कविता में हम देखते हैं कि कवि के हृदय में लहराता हुआ सौंदर्य का सागर उसकी कविता के रूप विन्यास को भी रंजित करता है।

अलंकारप्रियता और रूप सज्जा के प्रति रुझान छायावादी कविता के समान रीतिकालीन साहित्य में भी देखा जा सकता है। उपर्युक्त साम्य के बावजूद दोनों में पर्याप्त भेद है। यह भेद उन अलंकारों के पीछे काम करने वाली रुचि या सौंदर्य

---

36. डॉ. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ.18

भावना का है। नामवर जी लिखते हैं- "छायावादी कवियों ने रीतिकालीन कविता की इस रूढिवादिता और कृत्रिमता को अच्छी तरह भाँप लिया। इसलिये उन्होंने कविता के रूप विन्यास में भावों को प्रधानता दी । और भावों ने जिस तरह विचारों के क्षेत्र में रूढियों का विरोध किया, उसी तरह रूप विधान के क्षेत्र में भी। जब उन्होंने देखा कि रूप विधि संबंधी रूढियों के संकीर्ण ढाँचे में नवीन भाव अच्छी तरह नहीं अँट पाते तो उन्होंने प्राचीन रूप विधि का विरोध सैद्धांतिक स्तर पर किया। पल्लव की भूमिका में पंत लिखते हैं : "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिये नहीं; वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिये, राग की परिपूर्णता के लिये वे आवश्यक उपादान है; वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति,नीति है; पृथक स्थितियों के भिन्न रूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र है।" मतलब यह कि जो अलंकार यह शर्त पूरी न करे उन्हें छोड देना चाहिये और इस आधार पर छायावाद ने पुराने अलंकारों की परिपाटी छोड दी। आवश्यकतानुसार उन्होंने नई परिपाटी का निर्माण किया।"[37]

नामवर जी भाव और रूप की संगति को ही आदर्श स्थिति मानते हैं। यह स्थिति उसी प्रकार है, जिस प्रकार आभूषणों के बिना भी सुंदर शरीर विभूषित सा मालूम होता है। दूसरी ओर रूपवादी साहित्य की स्थिति ऐसी होती है कि जैसे आभूषणों के प्रति धारण करनेवालों का मन उदासीन हो और वे शरीर पर होते हुये भी शरीर के नहीं मालूम पडते। नामवर जी अपनी व्यावहारिक आलोचना में भी इस संगति पर दृष्टि बनाये रखते हैं। वे जब किसी रचना में रूप के स्तर पर मौजूद दुर्बलताओं की ओर संकेत करते हैं तो वहीं उस रचना के समूचे नैतिक स्खलन की बात भी करते हैं जो

---

37. डॉ. नामवर सिंह : छायावाद, पृ.94

रचनाकार की विचारधारा या जीवन दृष्टि से संबंधित होती है। निर्गुण और उषा प्रियंवदा की कहानियों के विश्लेषण में यह पद्धति देखी जा सकती है। निर्गुण की 'एक शिल्पहीन कहानी' तथा उषा प्रियंवदा की 'वापसी', दोनों ही कहानियाँ रिटायर्ड वृद्ध सज्जनों की जीवन गाथा प्रस्तुत करती हैं। पहली कहानी में नायक के दु:ख का कारण बाहरी है और दूसरे में भीतरी। दोनों कहानियाँ अपने रचनाकार की भिन्न जीवन दृष्टियों का परिचय देती हैं। यह अंतर दोनों कहानियों के रूप-विन्यास में भी मौजूद हैं। कहानी हो या कविता, नामवर जी रूप-विश्लेषण से अर्थ-विश्लेषण की ओर जाते हैं और अंत में समग्रत: मूल्य निर्णय प्रस्तुत करते हैं।

इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि रूप और वस्तु तत्व का अत्यंत स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत करने और उसे अपनी व्यावहारिक समीक्षा में विदग्धता से लागू करने के बावजूद 'कविता के नए प्रतिमान' की रचना करने पर नामवर जी पर 'रूपवादी दृष्टि की ओर झुकाव' का आरोप लगाया गया। इसका प्रमुख कारण यह था कि नामवर जी ने अंग्रेजी की 'नई समीक्षा' और कतिपय नए समीक्षकों को उद्घृत करके कविता की सापेक्ष स्वतंत्रता की माँग की है। मार्क्सवादी आलोचना के रूप तिरस्कार की क्षतिपूर्ति करने के प्रयास में उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि रूपवाद का उत्तर स्थूल समाजशास्त्रीयता नहीं, बल्कि विषय-वस्तु और रूपविधान के द्वान्द्वात्मक संबंधों की सही जानकारी पर आधारित सच्ची मार्क्सवादी आलोचना ही हो सकती है। ज्ञान के क्षेत्र में विरोधी विचारधारा को भी वे त्याज्य नहीं मानते। अत: तमाम विरोधों और आक्षेपों के बावजूद वे अपनी मान्यता पर अडे रहते हैं कि रूपवादी आलोचना के तत्वों का उपयोग मार्क्सवादी आलोचना को समृद्ध करने के लिए हो सकता है।

नामवर जी कहते हैं- "दूसरी बात हम लोग यह कहते रहे हैं कि मार्क्सवादी आलोचना में अंतर्वस्तु और रूप की एकता और उसका द्वन्द्वात्मक संबंध बहुत महत्वपूर्ण सिद्धांत है। लेकिन अधिकांश आलोचना अंतर्वस्तु प्रधान होती थी औ उसमें रूप पक्ष की उपेक्षा होती थी। फलत: रचना की रूप संबंधी समीक्षा के लिए मार्क्सवादी आलोचना की कोई बहुत समृद्ध परंपरा सुलभ नहीं हुई। तथाकथित नई समीक्षा में जिस को लेकर मुझपर आरोप लगाया जाता है, रूप के विश्लेषण संबंधी अनेक औजार थे जिनको मैं ने लिया और मैं अब भी समझता हूँ कि वह सही किया। यदि मार्क्स बूर्जुवा और भाववादी हेगल से डायलेक्टिस ले सकते हैं और उसमें कोई संकोच नहीं करते तो नये समीक्षकों की रूपगत अवधारणाओं को लेने में हम क्यों संकोच करें? महत्वपूर्ण यह है कि हम उनका उपयोग किस रूप में- किन मूल्यों की प्रणाली के ढाँचे में करते हैं? जैसे कोई प्रगतिशील रचनाकार अपने पूर्त्ववर्ती बूर्जुवा रचनाकारों की टेकनीक अपने कथ्य के लिए ग्रहण करके पाप नहीं करता, उसी प्रकार का अधिग्रहण आलोचक केलिए भी त्याज्य नहीं है। इस प्रकार रचना की आंतरिक आवश्यकता और दुश्मन के प्रत्यय परक औजार छीनने में कोई विरोध नहीं है। मार्क्सवादी आलोचना में इन दोनों दृष्टियों का विकास हुआ है।"[38] मार्क्सवाद निरंतर विकासशील कला दृष्टि है और नामवर जी अपने मौलिक चिंतन से उसे समृद्ध करने केलिए प्रयत्नरत है।

परंपरा का पुर्नमूल्यांकन

मार्क्सवादी आलोचना के विवादास्पद किंतु महत्वपूर्ण मुद्दों की चर्चा करते हुये शिवकुमार मिश्र ने परंपरा के मूल्यांकन पर विचार किया है। वे लिखते हैं- "परंपरा के मूल्यांकन का मार्क्सवादी नजरिया परंपरा के प्रति पूज्य भाव का न होकर विवेक सम्मत

---

38. सं. समीक्षा ठाकुर : कहना न होगा, पृ.27

आलोचनात्मक रुख की हिमायत करने वाला है और यह विवेक हमें मार्क्सवाद की इतिहास दृष्टि से प्राप्त होता है। निषेध के निषेध की मार्क्सवादी अवधारणा के तहत परंपरा के जीवन्त तत्व आगे की कडी में मिलते हैं और उसकी मरणोन्मुख तत्वों का क्षय होता है। मार्क्सवाद का यह नजरिया परंपरा को युग के अपने अंतर्विरोधों तथा उन अंतर्विरोधों की उस युग की रचना में होनेवाली अभिव्यक्ति के बीच से पहचानने पर बल देता है और इसी क्रम में परंपरा के मरणोन्मुखी तथा जीवंत तत्वों की पहचान होती है और सर्जना की मूल्यवत्ता की अपनी परख भी। यहाँ पर द्वन्द्वात्मक दृष्टि ही हमें सरलीकरण और यांत्रिकता से बचाती है। किसी विशेष युग की रचना या रचनाकार के बारे में हम रायजनी उसके युग तथा उसकी रचना की अंतर्विरोधी वास्तविकता के बीच से ही करते हैं और उसकी समग्रता में करते हैं।"[39]

डॉ. नामवर सिंह का परंपरा संबंधी दृष्टिकोण स्पष्ट एवं मूर्त है। वे पूर्व प्रतिष्ठित परंपरा का संपूर्ण तिरस्कार या अवमानना नहीं करते किंतु इसके सम्मुख लोकोन्मुखी परंपरा के प्रगतिशील तत्वों को रेखांकित करते हैं। 'दूसरी परंपरा की खोज' में हजारीप्रसाद द्विवेदी जी की चिंतन धारा की व्याख्या तो है ही, अपनी परंपरा के प्रति जागरुक दृष्टिकोण का प्रमाण भी है। अटपटी भाषा और कवित्वहीनता को लेकर हिन्दी में कबीर का तिरस्कार हो रहा था। व्यंग्यकार कबीर की भाषा की जीवन्तता और असाधारणता को द्विवेदी जी ने ही सर्वप्रथम रेखांकित किया। उन्होंने कबीर के समाज-सुधारक रूप का खण्डन किया। कबीर समन्वय या समझौते का कभी प्रयास नहीं करते बल्कि बाह्याचारों और अंध विश्वासों का विध्वंस करने वाले क्रांतिकारी थे। कबीर के इस रूप का प्रभाव नामवर जी ने बीसवीं सदी के चौथे दशक के साहित्य में देखा है।

---

39. शिवकुमार मिश्र : आलोचना के प्रगतिशील आयाम, पृ.50

इतिहासकारों ने इसे घोर उथल-पुथल और मन्थन का काल कहा है। गाँधीवाद के आदर्शवाद का ढाँचा कमजोर पर रहा था। मार्क्स और फ्रायड के विचार शिक्षित मध्यवर्ग को प्रभावित औरआंदोलित कर रहे थे। दूसरे महायुद्ध के कुप्रभाव ने आर्थिक असुरक्षा की भावना को बढावा दिया। निराला की 'कुकुरमुत्ता', बच्चन की 'मधुशाला', राहुल जी की 'वोल्गा से गंगा तक' आदि रचनायें इन परिस्थितियों की उपज हैं। इसमें कहीं विद्रोह और कहीं फक्कडपन है। नामवर इसमें कबीर के प्रभाव को लक्षित करते हैं- "इस दौर के विद्रोह को अपने अतीत से यदि कोई नैतिक समर्थन मिल सकता था तो केवल कबीर से। जिस तरह व्यक्तिगत और सामाजिक पाखंड के प्रत्येक रूप के विरुद्ध आक्रोश इस दौर में था उसकी प्रतिध्वनि कबीर में ही सुनी जा सकती थी। कुल मिलाकर यह विद्रोह भावात्मक और साहित्यिक ही था। विद्रोही कवि और लेखक इस मामले में पूरी तरह सतर्क थे कि उन्हें समाज सुधारक समझने का भ्रम न हो। उन्नीसवीं सदी के समाज-सुधारकों की उपदेशात्मक भंगिमा और भाषा से इस दौर के साहित्य का तेवर साफ अलगाया जा सकता है। अलगाव के लिये उपदेश की शुष्कता से बचना आवश्यक था। फक्कडपन का बाना शायद इसी आवश्यकता की उपज थी।"[40]

कबीर के संबंध में कहा जाता है कि क्रांतिकारी कवि होते हुए भी उन्होंने राजसत्ता को चुनौती नहीं दी। इसके कारणों को नामवर जी ने स्पष्ट किया है। कबीर का विरोध राजसत्ता से नहीं वरन् सामंती-पुरोहिती दमन चक्र से था जिसमें हिन्दु और मुसलमान दोनों पिस रहे थे। वे जनता के उस दु:ख से दु:खी थे जिसका संबंध

---

40. डॉ. नामवर सिंह : दूसरी परंपरा की खोज, पृ.54

जाति-धर्म के परंपरागत नियमों से था। इसलिये उन्होंने धार्मिक विधि विधानों के खिलाफ आवाज उठायी।

द्विवेदी जी के महत्व को अंकित करने के साथ ही नामवर जी पूर्ववर्ती आलोचना की उस साहित्यिक कसौटी का विरोध करते हैं जिसपर योगियों और संतों का मूल्यांकन किया गया था। शुक्ल जी उनकी रचनाओं को 'साहित्य' ही नहीं मानते। उनके मत का विश्लेषण करते हुये नामवर जी लिखते है- "शुक्ल जी कहते हैं कि 'संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का विकास' इस शाखा में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समुदाय को अपनी ओर आकर्षित करता है।" योगियों और निर्गुण संतों में 'संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी' का विकास क्यों नहीं हो सका, इसका कारण संभवत: शुक्ल जी के इस कथन में है कि "चौरासी सिद्धों में बहुत से मधुए, चमार,धोबी, डोम, कहार, लकडहारे, दर्जी तथा और बहुत से क्षुद्र कहे जानेवाले लोग . . . . जो शास्त्रज्ञान संपन्न न थे, जिनकी बुद्धि का विकास बहुत सामान्य कोटि का था।" इस प्रकार साहित्य की कसौटी का आधार सामाजिक और सांस्कृतिक है। जो 'सुसंस्कृत' है उसकी गाली भी साहित्यिक है, लेकिन जो 'असंस्कृत' है उसकी डाँट फटकार भी असाहित्यिक है। तुलसीदास यदि अलख जगाने वालों को 'नीच' कहे तो काव्य है, लेकिन कबीर का यह कथन अशिष्ट गाली है: 'पांडें कौन कुमति तोहें लागी। तू राम न जपि अभागी।' इस मान्यता के चलते, एक की दार्शनिक उक्तियाँ काव्य हैं और दूसरे की सांप्रदायिक शिक्षा मात्र ! क्या इसलिए कि एक प्रभु वर्ग की संस्कृति के पक्ष में बोलता है और दूसरा उस संस्कृति का विरोध

करता है।"[41] नामवर जी मानते हैं कि द्विवेदी जी ने स्थिर सुशिक्षित रुचि के विरुद्ध व्यापक दृष्टि का परिचय दिया है और साहित्य की कसौटी का प्रत्याख्यान किया है।

हिन्दी में सिद्धों, योगियों, निर्गुण संतों और सगुण भक्तों के विचारों में आलोचकों ने जो असंगतियाँ दिखायी हैं, वे सर्वथा अनुचित हैं। 'तात्विक' प्रणाली से की गई समीक्षा रचनाकार के साथ न्याय नहीं करती। नामवर जी मानते हैं कि योगियों और सन्तों के 'रहस्यवाद' को लोक विरोधी सिद्ध करने से पूर्व ऐतिहासिक दृष्टि से उसका मूल्यांकन करना समीचीन होगा।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जब परंपरा के मूल्यांकन या साहित्य की लोकधर्मिता का सवाल उठता है तो नामवर जी 'अंधलोकवाद' के खतरों के प्रति भी सावधान रहते हैं। इससे सस्ते लोकप्रिय मनोरंजक साहित्य को बढावा मिलता है अत: लोकधर्म की सही पहचान आवश्यक है। 'इतिहास में लोक साहित्य' शीर्षक लेख में नामवर जी शिष्ट साहित्य तथा लोक साहित्य के पारस्परिक संबंधों को जाँचते हुये प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन की माँग करते हैं। उनका विचार है कि ह्रास युग और उत्थान युग के तुलनात्मक मूल्यांकन में भी लोक साहित्य के न्यूनाधिक प्रभाव का विश्लेषण उपादेय होता है; क्योंकि प्राय: उत्थान युग का साहित्य लोक साहित्य के निकट होता है।

परंपरा संबंधी नामवर जी के विचारों का सार निम्नलिखित पंक्तियों में देखा जा सकता है- "इतिहास की विविध अंतर्धाराओं के बीच से एक धारा का निर्माण करते समय यह याद रखना बहुत जरूरी है कि प्रतिमान के रूप में किसी परंपरा का प्रयोग करना स्वत: अपने आप को भी समीक्षा के लिये उद्घाटित करना है क्योंकि सैद्धांतिक प्रतिमान की तुलना में परंपरा एक व्यावहारिक प्रतिमान है: व्यावहारिक अर्थात् स्वयं

---

41. डॉ. नामवर सिंह : दूसरी परंपरा की खोज, पृ.104

प्रयुक्त और प्रयोक्तव्य, विनियुक्त और विनियोज्य, अधिक स्पष्ट शब्दों में- व्यवहार के रूप में सिद्धान्त।"[42]

इतिहास बोध

साहित्य के प्रति सजग इतिहास दृष्टि नामवर जी की अनेक रचनाओं में देखी जा सकती है। इतिहास संबंधी उनका चिंतन ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण पर आधारित है। ऐतिहासिक भौतिकवाद, समाज और उसके विकास के नियमों को अपना उपजीव्य मानता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की निष्पत्ति के आधार पर इसमें सामाजिक प्राणी और सामाजिक चेतना के संबंधों का विश्लेषण किया जाता है। इतिहास निर्माण में व्यक्ति के सहयोग, वर्गों के उद्भव, वर्ग संघर्ष के आरंभ, नियमों का निर्धारण आदि इसमें प्रमुख विवेच्य हैं।

साहित्य का इतिहास लेखन सूचना-धर्मी कार्य मात्र नहीं है। यह कार्य कोई जागरूक समीक्षक ही कर सकता है। नामवर जी लिखते हैं- "वस्तुत: इतिहास लिखने का कार्य वही कर सकता है जो स्वयं इतिहास बनाने में योग देता है अथवा दिलचस्पी रखता है- इतिहास अर्थात् समसामयिक इतिहास, क्योंकि जो बीत चुका उसका अब क्या बनाया जा सकता है? इसलिए साहित्य के इतिहास की मुख्य समस्या है समसामयिक साहित्य की समस्या; अन्य युगों की सारी समस्याएँ सहायक हैं, अथच गौण।"[43] नामवर जी मानते हैं कि जहाँ दृष्टि अतीतोन्मुखी हो वहाँ इतिहास नहीं है, क्योंकि इतिहास की दृष्टि भविष्योन्मुखी होती है और इतिहास का केन्द्र-बिंदु

---

42. डॉ. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ.170
43. वही, पृ.155

समसामयिक होता हैं। इतिहास निर्माण का कार्य रचनाकार ही करते हैं क्योंकि रचना के द्वारा ही इतिहास का निर्माण संभव है।

नामवर जी हिन्दी साहित्य के इतिहास की प्रवाहमान धारा में लोक साहित्य के तत्वों की खोज का आह्वान करते हैं। लोक साहित्य आदिम साहित्य या जन साहित्य से भिन्न है। आदिम साहित्य उस युग का साहित्य है जब मानव समाज का संघटन अत्यंत घनिष्ठ था, वह शिष्ट और सामान्य व्यक्तियों में विभाजित न था। लोक साहित्य उस युग का साहित्य है जब समाज स्पष्ट रूप से लोक और शिष्ट में विभक्त है। जन साहित्य औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न समाज व्यवस्था में प्रवेश करनेवाले सामान्य जन का साहित्य है। 'लोक साहित्य' को अधिक स्पष्ट करते हुये वे लिखते हैं- "लोक साहित्य जनता द्वारा रचित होता है पर इसका यह अर्थ नहीं कि सारा जनसमूह एक साथ बैठकर एक एक शब्द और पंक्ति गढता है। वस्तुत: लोक साहित्य भी व्यक्तियों द्वारा रचा जाता है परंतु वह रचयिता व्यक्ति अपने संपूर्ण श्रोता समाज का प्रतिनिधि मात्र होता है; यदि लोक समाज भावराशि है तो रचयिता व्यक्ति अभिव्यक्ति का माध्यम।" [44] नामवर जी मानते हैं कि अपने युग की राजनीतिक और सामाजिक घटनाओं को प्रतिध्वनित करने में लोक साहित्य शिष्ट साहित्य से कम नहीं होता अत: साहित्य के इतिहास में उनके आपसी संबंधों पर विचार किया जाना चाहिये।

इतिहास प्रमाणित करता है कि प्राय: उत्थान युग का साहित्य लोक साहित्य के निकट जान पडता है। शिष्ट एवं लोक साहित्य का सान्निध्य पंद्रहवीं शती में देखा जा

---

44. डॉ. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ.126

सकता है। संत तथा भक्त कवियों की बहुजन स्पर्शी चेतना ने भक्ति काव्य को यह गौरव प्रदान किया है। जनता को हेय मानने वाले रीतिकालीन साहित्यकार ने लोक साहित्य से कोई प्रेरणा नहीं ग्रहण की। भारतेन्दु युग के साहित्य में पुन: जन सामान्य की भाव-प्रतिमा प्रकट हुई। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने इतिहास में भक्ति आंदोलन की जन्मभूमि 'लोकधर्म' को ही माना है। शास्त्र वंचित जन समूह की मानसिक अभिव्यक्ति होने के कारण उसका अनिश्चित और अव्यवस्थित होना स्वाभाविक है किंतु उसे महत्वहीन नहीं कहा जा सकता। आन्तोनियो ग्राम्शी ने लोकप्रिय विचारधारा केलिए तात्विक दृष्टि को अनुपयुक्त और ऐतिहासिक दृष्टि को सर्वथा अनुकूल माना है। इसी आधार पर नामवर जी ने कहा है, 'रहस्यवाद तात्विक दृष्टि से लोक विरोधी और बुद्धि विरोधी होने के कारण एक गलत विचारधारा हो सकती है, किंतु जरूरी नहीं कि किसी निश्चित ऐतिहासिक संदर्भ में भी उसकी वही लोकविरोधी भूमिका हो। यह तथ्य है कि मध्ययुगीन सामंती पुरोहिती वातावरण में विभिन्न देशों के अनेक रहस्यवादी संतों ने विद्रोह का झंडा बुलन्द किया और इस तरह के अधिकांश विद्रोही संत तत्वत: रहस्यवादी ही थे। इसलिए हिन्दी के योगियों और संतों के रहस्यवाद का मूल्यांकन भी इसी ऐतिहासिक दृष्टि से समीचीन है।"[45] नामवर जी मानते हैं कि योगियों और संतों के रहस्यवाद के मूल्यांकन में द्विवेदी जी ने मार्क्सवादी आलोचकों की तुलना में अधिक ऐतिहासिक दृष्टि का परिचय दिया है।

पहले कहा जा चुका है कि नामवर जी का इतिहास-चिंतन ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से संपन्न है। ऐतिहासिक भौतिकवाद, जीवन और जगत के प्रति

---

45. डॉ. नामवर सिंह : दूसरी परंपरा की खोज, पृ.81

ऐसा सर्वव्यापी दृष्टिकोण है जिसे आधुनिक युग के इतिहास शिल्पी शक्तियों ने अस्त्र के रूप में अपनाया है। पूर्ववर्त्ती इतिहासकारों का अनुशीलन करते हुये नामवर जी प्रतिपादित करते हैं कि गार्सा द तासी का 'इस्त्वार द ला लित्रेत्यूर ऐंदुई ऐ ऐंदुस्तानी', शिवसिंह सेंगर का 'शिवसिंह सरोज', मिश्रबंधुओं का 'मिश्रबंधु विनोद' आदि इतिहास ग्रंथों में इतिहास का अर्थ था- व्यक्तियों की सूची तैयार करना। कोरी जानकारी प्रदान करना ही उनका उद्देश्य था। अगले दौर में दो उल्लेखनीय इतिहास ग्रंथ शुक्ल जी एवं बाबू श्यामसुंदर दास द्वारा लिखे गये। इनमें शुक्ल जी का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पथप्रदर्शक सिद्ध हुआ। उनके ऐतिहासिक महत्व का उल्लेख करते हुये नामवर जी लिखते हैं- "मिश्र बंधुओं ने हिन्दी साहित्य के जिस कंकाल को आकार भर दिया था उसमें शुक्ल जी ने रक्त संचार किया और साथ ही उसे मांसल भी बनाया। . . . इतिहास के आदि, मध्य, आधुनिक जैसे कोरे कालपरक विभाजन को उन्होंने वीरगाथा, भक्ति, रीति तथा गद्यकाल की भावपरक क्यारियों को पुन: रोपने का उद्योग किया; साथ ही इन सबका सामान्य परिचय दे कर एक ऐतिहासिक प्रवाह दिखाना चाहा। उन्होंने प्रवाह की गति का उत्थान पतन भी दिखाया और लोक संग्रह की कसौटी पर इतिहास के समाजोन्मुख एवं समाज पराङ्मुख युगों में अन्तर दिखलाया।"[46] शुक्ल जी के इतिहास की प्रणाली उनके जीवन-जगत संबंधी दृष्टिकोण से निर्धारित हुई थी। इस दृष्टिकोण की असंगति ने सामाजिक परिस्थितियों और साहित्यिक प्रवृत्तियों के बीच कार्य-कारण संबंधी असंगति को बढावा दिया। नामवर जी के अनुसार "एक ही परिस्थिति में विभिन्न काव्य प्रवृत्तियों के अस्तित्व की संगति बैठाने में वे असमर्थ थे क्योंकि उन्हें उन

---

46. डॉ. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ.136

परिस्थितियों में पलनेवाली परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के अंतर्विरोध का पता न था। दृष्टिकोण की इसी सीमा के कारण उनके मूल्यांकन की पदावली भी सीमित अथवा आवृत्तिमयी रही। इसलिये अपने युग का प्रतिनिधित्व करता हुआ भी शुक्ल जी का इतिहास आगामी युग के लिए अपूर्ण प्रतीत हुआ।"[47]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में पूर्ववर्ती व्यक्तिवादी इतिहास प्रणाली के स्थान पर सामाजिक अथवा जातीय ऐतिहासिक प्रणाली का प्रयोग हुआ है। इस पुस्तक को नामवर जी साहित्य के नवीन इतिहास की भूमिका मानते हैं। इसमें द्विवेदी जी ने हिन्दी पूर्व संपूर्ण भारतीय साहित्य के विकास के रूप में हिन्दी साहित्य का निरुपण किया। परंपरा के इतने विस्तृत परिदृश्य में हिन्दी साहित्य को देखने का यह पहला प्रयास था। सामाजिक परिस्थितियाँ घटनाओं के द्वारा सतही रूप से वर्णित नहीं हुई बल्कि सजीव सामाजिक शक्तियों के क्रियाकलापों के माध्यम से अभिव्यक्त की गई। इसी कारण समाज और साहित्य में कार्य-कारण संबंध स्थापित करने में उन्हें चूक नहीं हुई।

इतिहास के नये लेखकों से नामवर कहते हैं कि उन्हें इतिहास संपदा का लाभ उठाते हुये आवश्यकता के वास्तविक रूप को पहचान कर इतिहास की व्याख्या और विधान का परिवर्तन करना होगा। इसके लिये ऐतिहासिक भौतिकवादी दर्शन सबसे उपयुक्त दर्शन है। वे इतिहास लेखकों को सलाह देते हैं- "ऐतिहासिक भौतिकवाद के प्रवर्तकों और योग्य अनुयायियों के साहित्य विषयक बिखरे हुये विचारों को सी-तागकर

---

47. डॉ. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ.137

सुथना तैयार करने से हिन्दी साहित्य का इतिहास नहीं ढँक सकता। हमें उन सूत्रों को केवल पथ प्रदर्शक के रूप में सामने रखना चाहिये। ऐतिहासिक भौतिकवाद की यह पहली सीख है।''[48]

हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्ययन के लिये द्वन्द्वात्मक प्रणाली की रूपरेखा नामवर जी प्रस्तुत करते हैं। इसकी चार विशेषताओं की ओर उन्होंने क्रम से संकेत किया है। पहली विशेषता है किसी वस्तु , व्यक्ति, घटना या विचार को अन्य वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं और विचारों के अविभाज्य अंग के रूप में देखना। साहित्य के संदर्भ में इसका अर्थ होगा साहित्यिक प्रवृत्तियों और राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक-धार्मिक परिस्थितियों के साथ उसका सजीव संबंध दिखाना। दूसरी विशेषता है व्यक्तियों, घटनाओं और विचारों को गतिशील, परिवर्तनशील और क्रमबद्ध रूप में देखना। साहित्य के क्षेत्र में एक प्रवृत्ति के अंत से ही दूसरी प्रवृत्ति की उत्पत्ति देखी जा सकती है। एक ही प्रवृत्ति को शाश्वत रूप से दिखाना असंगत है। तीसरी विशेषता है विकास क्रम को ऊर्ध्वोन्मुख और अग्रसर रूप में देखना। विकास का अर्थ पुनरावृत्ति या वृत्ताकार परिक्रमा नहीं है। वर्तमान प्रवृत्तियों को ज्यों का त्यों अतीत में खोजना और प्राचीन साहित्य की प्रवृत्तियों को आधुनातन साहित्य में ढूँढना सर्वथा अनुचित है। चौथी विशेषता है- वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं और विचारों में असंगतियों अथवा अन्तर्विरोध को पहचानना। अन्तर्विरोधों की पहचान के सहारे ही किसी काल विशेष के साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों को समझा जा सकता है।

---

48. डॉ. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ.140

नामवर जी ने ऐतिहासिक भौतिकवाद के अपने विश्लेषण द्वारा इतिहास के अध्ययन के लिये नये दृष्टिकोण की रूपरेखा प्रस्तुत की है। पूर्ववर्ती इतिहास ग्रंथों का महत्व असंदिग्ध है पर उनके कमजोर पक्षों को प्रस्तुत कर नामवर जी ने इतिहास लेखन को मार्क्सवादी पद्धति द्वारा विकसित करने का प्रयास किया है। अत: उनके विचार किसी भी इतिहासकार के लिये दिशा-निर्देशक सिद्ध होंगे और उनकी प्रसंगिकता सदैव बनी रहेगी।

निष्कर्ष

मार्क्सवादी साहित्यिक प्रतिमानों की दृष्टि से नामवर जी के आलोचना साहित्य के मूल्यांकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने मार्क्सवाद के सिद्धांतों को आत्मसात किया है। ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण को बडी सफलता से हिन्दी साहित्य पर लागू करते हैं और साहित्य समीक्षा का ऐसा मार्ग प्रशस्त करते हैं जो सामाजिक यथार्थ की सही अवधारणा पर आधारित है। मार्क्सवादी साहित्य का अध्ययन मनन कर उन्होंने उसके सूत्रों को अपने लेखन में पथ-निर्देशक के रूप में अपनाया है।

वे जड सिद्धान्तवादी आलोचक नहीं है। वे अपने समय के प्रति अत्यधिक संवेदनशील हैं। उन्हें शुष्क सिद्धांत चर्चा में यकीन नहीं है। वे सिद्धान्त को रचना पर लागू नहीं करते वरन् रचना की आधार पर अपने आलोचना के अस्त्रों को चुनते हैं।

विचारधारा को कला पर आरोपित करना नामवर जी को मान्य नहीं है। वे मानते हैं कि कलाकृति में विचारधारा और कला का ऐसा एकात्म होना चाहिये कि विचारधारा अपने पूरे प्रभाव के साथ विद्यमान होते हुये भी कलाकृति के सौंदर्य नियमों का

अतिक्रमण न करे। 'साहित्य और समाज' संबंधी उनके विचारों के विश्लेषण से भी स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर उपजता है और उत्कृष्ट साहित्य निस्संदेह समाज को प्रभावित भी करता है किंतु साहित्य को सामाजिक घटनाओं का अनुवाद मानने वालों के नजरिये में खोट है क्योंकि साहित्य महज अनुकृति नहीं बल्कि रचनात्मक कृति है। इस रचनात्मक कृति में वस्तु और रूप की संगति ही आदर्श स्थिति है पर वस्तु पर बल होना चाहिये। नामवर जी के इस आलोचना सिद्धान्त का निर्वाह उनकी व्यावहारिक आलोचना में स्पष्टत: देखा जा सकता है। जैसे कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका हैं, वे जड सिद्धान्तवादी आलोचक नहीं हैं। साहित्य क्षेत्र की, चाहे विदेशी हो या भारतीय, वे सभी हलचलों की जानकारी रखते हैं और उनकी दृष्टि में जो विचारधारा मार्क्सवादी आलोचना को समृद्ध करने में सहायक सिद्ध हो सकती है, उसे अपनाने से वे नहीं कतराते। स्वाभाविक है कि उनके सबसे प्रिय लेखक 'न्यू क्रिटिसिज्म' के प्रवर्तक एफ.आर. लीविस हैं।

इतिहास और परम्परा संबंधी नामवर जी की अवधारणा में, मार्क्सवाद का प्रभाव सर्वाधिक दृष्टिगोचर होता है। ऐसिहासिक भौतिकवाद का विस्तार से विश्लेषण कर वे उस पद्धति की ऐसी रूपरेखा तैयार करते हैं, जिसका महत्व इतिहास लेखकों के लिये सार्वकालिक है। पूर्ववर्ती इतिहास ग्रंथों के कमजोर पक्षों और अन्तर्विरोधों के निवारण हेतु, ये अवश्य ही प्रेरणाप्रद होंगे। लोक और शिष्ट साहित्य की चर्चा करते समय नामवर जी शिष्ट का महत्व स्वीकार करते हुये भी सदैव लोक साहित्य के जीवंत तत्वों की हिमायत करते हैं। स्पष्ट है कि 'मार्क्सवाद' से ही वे अपने आलोचनात्मक अस्त्रों को एकत्रित करते हैं किंतु साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि आलोचक नामवर सिंह की मूल आस्था साहित्य के प्रति ही है। 🕮

निष्कर्ष और उपसंहार

निष्कर्ष और उपसंहार

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में नये युग के सूत्रधार आचार्य रामचंद्र शुक्ल हैं। शुक्ल जी के अभाव में इस सदी की हिन्दी आलोचना के स्वरूप और स्तर का अनुमान लगाना कठिन है। उनका 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' एक प्रतिष्ठित और सर्वमान्य ग्रंथ है। उसमें संशोधन या पुनर्विचार की गुंजाइश हो सकती है पर हिन्दी साहित्य से संबद्ध हर व्यक्ति के लिए उसका अध्ययन, साहित्य समीक्षा के प्रामाणिक स्रोत के रूप में अनिवार्य है। शुक्ल जी की आलोचक दृष्टि ने तुलसी के मूल्यांकन में जिस विलक्षणता का परिचय दिया, वह कबीर के संबंध में कमजोर प्रतीत होती है। हजारीप्रसाद द्विवेदी की तत्व-भेदी दृष्टि ने कबीर के साथ हुए अन्याय को पहचाना और तुलसीदास के समानान्तर उसके महत्व को रेखांकित करते हुए यह सिद्ध किया कि कविता के क्षेत्र में कबीर जैसी प्रतिभाएँ हजारों वर्षों के इतिहास में कभी-कभी पैदा होती है। प्रगतिवाद की प्रमुख आरंभिक आलोचनात्मक ध्वनियाँ शिवदान सिंह चौहान और रामविलास शर्मा में सुनाई दी। डॉ. शर्मा ने शुक्ल जी के विचारों की पुनर्व्याख्या की और उसमें युगानुरूप विस्तार किया। कवि मुक्तिबोध के लिए आलोचना एक रचनाकार का आपद् धर्म है। वे जीवन और साहित्य के जिन प्रश्नों से जूझ रहे थे, उन्हें कविता में कह पाना असंभव था इसलिए उन्होंने प्रखर आलोचनात्मक कृतियाँ लिखी। हिन्दी आलोचना की इस समृद्ध परंपरा के आलोक में डॉ. नामवर सिंह के आलोचनात्मक अवदान की पडताल करना ही इस शोधाध्ययन का उद्देश्य है।

शख्सियत

डॉ. नामवर सिंह के संबंध में उनके आत्मीयों ने जो कुछ लिखा है उसके आधार पर जो चित्र उभरता है उसमें नामवर जी धोती-कुर्ता पहननेवाले, सुर्ती मलनेवाले, भोजपुरी बोलनेवाले और कंचन की नगरी में किसानी संस्कारों के साथ रहनेवाले व्यक्ति है। उनकी 'गरबीली गरीबी', पुस्तक पकी आँखों और सम्मोहित करनेवाली वाक् कला के विषय में काफी कुछ लिखा जा चुका है। नामवर जी की प्रिय सूक्ति है "चढिए हाथी ज्ञान को, सहज दुलीचा डाल। श्वान रूप संसार है, भूंकन दे झकमार।' उनकी प्रिय चारित्रिक विशेषता 'साहस' है। यही साहस और आत्म-विश्वास उनके आलोचना कर्म की पहचान भी है।

नामवर जी इसे अपना सौभाग्य मानते हैं कि उन्हें गुरु के रूप में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी प्राप्त हुए। द्विवेदी जी ने ही वस्तुत: 'बाँस की नोकें छीलने' का कार्य किया था। भारतीय संस्कृति एवं परम्परा की सही पहचान तथा उसके शुद्धीकरण के प्रति जागरूकता उन्हीं के प्रभाव से नामवर जी में भी आई। प्रगतिशील लेख संघ की गोष्ठियों की चर्चाओं और बहसों ने उनके अंदर के आलोचक को जगाया। राजनीति में शीत युद्ध और साहित्य क्षेत्र में शिविरबद्धता का वह दौर था; मार्क्सवादी आलोचक की मेधा के साथ नामवर जी ने उस वैचारिक संघर्ष में सक्रिय हिस्सेदारी ली।

भारत के कतिपय अतिमहत्वपूर्ण विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभाग भी नामवर जी के कर्मक्षेत्र थे। काशी हिंदु विश्वविद्यालय, सागर विश्वविद्यालय, जोधपुर विश्वविद्यालय और जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय में उन्होंने अध्यापन कार्य किया।

अपने तीन दशक के अध्यापन कार्य द्वारा उन्होंने उच्च शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिये।

रचना संसार

डॉ. नामवर सिंह के आलोचनात्मक लेखन का क्षितिज हिन्दी साहित्य के इतिहास में आदि काल से लेकर समकालीन साहित्य तक फैला हुआ है। उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन की शुरुआत कवि के रूप में की। स्वाभाविक रूप से, जब वे आलोचना की ओर उन्मुख हुए तो कविता उनके कर्म की प्रकृत भूमि बनी। उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ के माध्यम से मार्क्सवाद को अपनाया। यद्यपि यूरोपीय मार्क्सवादी आलोचकों ने उपन्यासों की समीक्षा पर ध्यान केंद्रित किया था किंतु हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना आधेकांशत: कविता-केन्द्रित थी। कदाचित यह भी एक कारण है कि नामवर जी के अधिकांश लेखन के केन्द्र में कविता ही है। उनकी आलोचना की मनोभूमि में हिन्दी साहित्य के पुराने कालखंड के शोध एवं अध्ययन मनन का गहरा असर पडा है, जिसके कारण उनकी आलोचना के प्रतिमानों में हिन्दी साहित्य के इतिहास और भारतीय परंपरा की गहरी समझ परिलक्षित होती है।

'छायावाद' सर्जनात्मक आलोचना का उत्कृष्ट उदाहरण है। नामवर जी ने छायावादी काव्य के विश्लेषण द्वारा उसमें निहित समाजिक सत्य का उद्‌घाटन किया और साबित किया कि स्तरीय कविता का सामना होने पर आलोचना-कर्म जटिल हो जाता है। ऐसी स्थिति में सामाजिक सत्य को ऊपर से आरोपित करने की पद्धति उचित नहीं, उसे कविता के भीतर से खोज निकालना ही वांछनीय है। 'इतिहास और

आलोचना' में उनके साहित्यिक विमर्श की कसौटी मार्क्सवाद ही है। इसमें आलोचना तथा साहित्य के इतिहास को वस्तुनिष्ठ तरीके से देखने का प्रयास है। साहित्य के इतिहास संबंधी पूर्व प्रचलित मान्यताओं का खण्डन करते हुये उन्होंने इतिहास के प्रति वस्तुपरक, द्वन्द्वात्मक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समर्थन किया है। वे साहित्य की सापेक्ष स्वायत्तता के हिमायती हैं। छठे दशक के वैचारिक संघर्ष में भाग लेते हुये उन्होंने व्यक्तिवादी आत्मकेन्द्रित कविता के विरोध में 'इतिहास और आलोचना' के निबंधों की रचना की। स्थूल समाजशास्त्रीयता का जब बोलबाला हुआ तो रूप तत्व के महत्व को पुन:स्थापित करने के उद्देश्य से उन्होंने 'कविता के नए प्रतिमान' की रचना की। रूपवाद का उत्तर, उनके मत में, स्थूल समाजशास्त्रीयता नहीं है बल्कि विषय वस्तु और रूप- विधान के द्वन्द्वात्मक संबंधों की सही जानकारी पर आधारित सच्ची मार्क्सवादी समालोचना है। अंग्रेजी की 'नई आलोचना' के अनुकूल तत्वों को अपना कर नामवर जी प्रमाणित करते हैं कि ज्ञान के क्षेत्र में कुछ भी वर्ज्य नहीं है। 'कविता के नए प्रतिमान' के केन्द्र में मुक्तिबोध हैं जिन्होंने कविता के अलावा आलोचना के मोर्चे को भी सँभाला और नई कविता को नए सिरे से परिभाषित किया। नामवर जी ने इसमें समाजवादी चेतना युक्त रघुवीर सहाय और श्रीकान्त वर्मा की कविताओं के महत्व को रेखांकित किया है। उनपर यह आरोप लगाया गया है कि उन्होंने नई कविता को जिन मानदण्डों पर परखा है, वे रूपवादी आलोचना के सारोकार हैं। मेरे विचार में नामवर जी में कविता के रूपगत और वस्तुगत प्रतिमानों के द्वन्द्वात्मक संबंधों की सही समझ है जो उनकी मार्क्सवादी विचारधारा की ही देन है। नामवर जी की अर्थ-विश्लेषण की क्षमता, उनकी सबसे बडी ताकत है। उनके 'लोचन' उन्हें वह दृष्टि प्रदान करते हैं

जिससे वे काव्यार्थ में पैठ करते हैं और लक्ष्यार्थ, ध्वन्यार्थ की अंतिम संभावना का स्पर्श करते हैं। रचना की प्रकृति और संदर्भ के अनुसार ही वे लेखकों का मूल्यांकन करते हैं, अत: लेखकों के बारे में उनकी राय कभी सपाट नहीं होती।

नामवर जी की लोक चेतना के स्रोत आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं। स्थापित परंपरा के विरुद्ध विद्रोह करनेवाली, अस्वीकार के साहस की धनी जिस 'दूसरी परंपरा' की खोज उन्होंने की, उसका आधार यही 'लोक' है। इसी परंपरा में, सच्चे अर्थों में हमारे लोक जीवन और सामान्य जन की चेतना को अभिव्यक्ति मिलती है। वह शास्त्र वंचित जन समूह की अभिव्यक्ति है, अत: उसका अव्यवस्थित होना स्वाभाविक है किंतु शासक वर्ग की विचारधारा से मुक्त होने के कारण उसका अनन्य महत्व है। योगियों और संतों की विचारधारा में द्रष्टव्य 'अनुभवसम्मत विवेक पूर्ण जीवन दृष्टि' को नामवर जी ने लोकधर्म का सहज स्वभाव कहा है। यथार्थवादी लोकोन्मुखी दृष्टि से, समग्रता में रचना की पहचान करते हुये उन्होंने साहित्य क्षेत्र में संवाद का माहौल कायम रखा है। संवाद उनके लिए आलोचना की बहुत बडी कसौटी है और आलोचक के रूप में वे पाठक और रचना के बीच संवाद का माध्यम बनते हैं। 'वाद-विवाद-संवाद' उनके आलोचनात्मक और वैचारिक लेखों का संकलन है। नामवर जी मानते हैं कि सच्चा आलोचक अपनी निजी प्रतिक्रिया के साथ ही स्वयं आलोच्य कृति को सामने रखते हुए समानधर्मी पाठकों एवं आलोचकों को विचार विनिमय के लिए जैसे निमंत्रित सा करता है ताकि मूलकृति के इर्द-गिर्द निर्मित प्रतिक्रियाओं के द्वन्द्व से सामान्य निर्वाह तक पहुँचना संभव हो सके।

कहानी को रचनात्मक संभावनाओं से परिपूर्ण साहित्यिक विधा के रूप में स्थापित करने का कार्य नामवर जी ने ही किया। उन्होंने 'कहानी : नई कहानी' के माध्यम से कहानी के मूल्यांकन की ऐसी पद्धति के निर्माण का प्रयास किया है जिसमें आलोचना कभी भी रचना पर हावी नहीं होती। कहानी समीक्षा के क्षेत्र में काव्यालोचना के उपकरणों का अवसरानुकूल प्रयोग भी उन्होंने किया है किंतु उनके आलोचकीय विवेक एवं संतुलन बोध के कारण, कहीं भी कविता के प्रतिमान कहानी पर आरोपित प्रतीत नहीं होते। कहानी-पाठ की प्रक्रिया का विश्लेषण, उनकी कथालोचना का सबसे महत्वपूर्ण पहलू है।

डॉ. नामवर सिंह हिन्दी के मूल्यवान आलोचक हैं। इस शोध प्रबन्ध में उनकी रचनाओं के विश्लेषणात्मक अध्ययन के फलस्वरूप उनकी आलोचना शक्ति के निम्नलिखित बीज तत्वों को रेखांकित किया गया है।

क) बृहत्तर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं समसामयिक बोध

समकालीन प्रश्नों और बहसों में सक्रिय हिस्सेदारी लेने और उन्हें अपने आलोचना-कर्म का मूलाधार बनाने की प्रथा, वास्तविक अर्थों में, हिन्दी में नामवर जी से शुरू होती है। समकालीन विमर्श का कोई भी अध्याय, कविता हो, कथा हो या आलोचना, उनके नामोल्लेख के बिना पूरा नहीं समझा जाता। साहित्यिक गतिविधियों एवं प्रवृत्तियों का उन्होंने तत्काल आकलन किया है। अपने समकालीन सक्रिय लेखकों पर लिखने का जोखिम भरा कार्य उन्होंने बडे आत्मविश्वास के साथ किया तथा उनके साथ वाद-विवाद और संवाद की स्थिति को कायम रखा। अपनी समकालीन सक्रियता के कारण ही वे चले आ रही धाराओं को मोडने में सफल हुये। वे, एक

रचनाकार के समान अपनी बेचैनी, प्रतिबद्धता और महत्वाकांक्षा के तहत ही लिखते हैं। उन्होंने 'लोचन' को आलोचक का एकमात्र शस्त्र कहा है। हर हाल में मुकम्मल देखना और अपनी देखी हुई बारीकियों को दूसरों को दिखाना ही उनकी नजर में आलोचक का दायित्व है। नामवर जी अपने तीक्ष्ण लोचनों के साथ हिन्दी आलोचना के मैदान में डटे हैं।

समसामयिक बोध, नामवर जी की दृष्टि में परिवर्तित यथार्थ बोध है। इसके लिए जिस नवीनतम ज्ञान औरअद्यतन साहित्य की जानकारी अपेक्षित है, वह नामवर जी में सुलभ है। अपने समय की माँग के प्रति वे सजग हैं, अत: समकालीन के परिप्रेक्ष्य में अपने विचारों को पुन:संयोजित करते हैं। वे सदैव इस बात की गहराई से छानबीन करते हैं कि समकालीन युवा लेखन में क्या और कैसा लिखा जा रहा है। नई कहानी और नई कविता आंदोलनों की तह में जाकर, वास्तविकता का अन्वेषण करना उनके आलोचना-कर्म का जीवन्त साक्ष्य है। वे हिन्दी के पाठक वर्ग और समीक्षकों के ही नहीं, स्वयं अपनी साहित्यिक अभिरुचियों और संस्कारों से निरन्तर संघर्षरत है। इसी कारण वे अपने समय के साथ कदम मिलाकर चलने और नवीनतम साहित्यिक रूपों और प्रवृत्तियों को प्रामाणिकता के साथ सराहने का सामर्थ्य रखने हैं।

नामवर जी का समस्त लेखन एक निश्चित ऐतिहासिक आवश्यकता की उपज है। उनकी आलोचना प्रक्रिया स्थापित साहित्यिक मान्यताओं को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में परखने तथा समकाल की ऐतिहासिक आवश्यकता के परिप्रेक्ष्य में नये दृष्टिकोण और तदनुरूप नयी अवधारणा के प्रतिष्ठान की है। वे तात्कालिक रचनाओं पर भले ही लिख रहे हों, पर उनका बृहत्तर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य स्पष्ट होता है।

ख) सर्जनात्मकता में आस्था

'सर्जनात्मकता में आस्था' डॉ. नामवर सिंह के लेखन की वह विशेषता है जिसपर उनके चिन्तन का विकास टिका है। वे रचना को समग्रता से देखते हैं। केवल विचार या राजनीति के आधार पर वे कृति का मूल्यांकन नहीं करते। मार्क्सवादी विचारधारा को गहरे अध्ययन मानन द्वारा उन्होंने संस्कार की तरह आत्मसात किया है। लेकिन अन्ध-विचारवाद उन्हें मान्य नहीं है। उनकी आलोचना सिर्फ मार्क्सवादी सिद्धान्तों का भाष्य नहीं है; रचनात्मकता से वे उसे संवादधर्मी और उत्तेजक बनाते हैं। विचारधारा की असहमति, किसी रचनाकार के मूल्यांकन में नामवर जी के लिये बाधक प्रतीत नहीं होती। तमाम मार्क्सवादी कथाकारों से निर्मल वर्मा उन्हें अधिक प्रिय हैं। नई कविता के दौर में रघुवीर सहाय, विजयदेव नारायण साही और श्रीकान्त वर्मा उनके प्रिय कवि रहे हैं। मलयज और विष्णु खरे उनके प्रिय आलोचक हैं। स्पष्ट है कि उनके लिये साहित्यकार की सर्जनात्मकता ही महत्वपूर्ण है, कोई पूर्व प्रदत्त सिद्धान्त नहीं। 'कविता के नए प्रतिमान' की भूमिका में उन्होंने लिखा है- "मूल्यवान है एक भी ऐसे आलोचक का होना, जो किसी भी चीज को तब तक अच्छा न कहे, जब तक उस निर्णय के लिये अपना सब कुछ दाँव पर लगाने के लिये तैयार न हो।" सर्जनात्मकता के पक्ष में नामवर जी अपना सब कुछ दाँव पर लगाने को तैयार रहते हैं। यही कारण है कि निष्पक्षता उन्हें मान्य नहीं है। उनके विचार में संतुलन समन्वय नहीं है, विवेकसम्मत पक्षधरता ही वांछनीय गुण है। फलस्वरूप उनका संघर्ष जितना कट्टर मार्क्सवादी आलोचकों से रहा है उतना ही कलावादियों से भी।

नामवर जी की कृतियाँ उनके इस दोहरे संघर्ष को प्रमाणित करती हैं। कहीं वे जडीभूत सौंदर्यानुभूति के साथ संघर्षरत हैं तो कहीं मार्क्सवादी आलोचना में प्रक्षिप्त स्थूल

समाजशास्त्रीयता पर प्रहार करते है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि विचारधारा कला में आरोपित नहीं होनी चाहिये वरन् कला के साथ उसका इस प्रकार का एकात्म होना चाहिये कि वह अपने पूरे प्रभाव के साथ विद्यमान होते हुये भी कलाकृति के सौंदर्य नियमों का अतिक्रमण न करे। मार्क्सवाद उनके लिये महज राजनीतिक सिद्धान्त नहीं वरन् ऐसी विश्व दृष्टि है जिसका महत्वपूर्ण पक्ष है राजनीति। इसी के तहत में साहित्य और समाज के अन्योन्याश्रित संबंध को वे स्पष्ट करते हैं। लेखक का व्यक्तित्व, समाज और साहित्य के बीच की महत्वपूर्ण कडी है। किसी कृति का सही मूल्यांकन उसमें निहित सामाजिक यथार्थ के विश्लेषण द्वारा ही संभव है। सिद्धान्तों का अनुकथन, साहित्य में उन्हें मान्य नहीं है। विषय वस्तु पर बल देने की जब वे चर्चा करते हैं तो आशय है जगत् के सत्य का पूर्ण और गहरा ज्ञान। युग सत्य की सही पहचान के द्वारा ही साहित्यकार, मानव जयवाहिनी का पक्षधर हो सकता है। वस्तु पर अधिक बल देते हुये भी भाव और रूप की संगति को नामवर जी साहित्य की आदर्श स्थिति मानते हैं। व्यावहारिक आलोचना में वे रूप विश्लेषण से अर्थ विश्लेषण की ओर जाते हैं और अंत में समग्रता से मूल्य निर्णय देते हैं।

ग) लोकोन्मुखता

इस शोधाध्ययन के दौरान नामवर जी के लेखन में जो गुण आद्यंत परिलक्षित होता है वह उनकी लोकोन्मुखता है। अस्वीकार के साहस की धनी जिस 'दूसरी परंपरा' की खोज उन्होंने की, उसका आधार यही 'लोक' है। द्विवेदी जी ने 'युग के संपूर्ण मानव को उद्भासित करने की क्षमता' से युक्त साहित्य को वांछनीय बताया था। नामवर जी की लोकोन्मुखता और उनके आलोचनात्मक व्यवहार का स्पष्टीकरण

द्विवेदी जी की इस टिप्पणी में देखा जा सकता है। वे लेखक को 'स्वत: संपूर्ण इकाई' नहीं मानते हैं। उनका विचार है कि बहुजन को स्पंदित करनेवाली जीवनी-शक्ति रचनाकार को लोक जीवन से ही प्राप्त होती हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अंधलोकवाद के प्रति उनका विरोध मुखर है। वे लोक जीवन के प्रति वस्तुगत यथार्थवादी दृष्टि की माँग करते हैं।

डॉ. नामवर सिंह का लेखन हिन्दी आलोचना की अन्यतम उपलब्धि है। प्रस्तुत शोध कार्य के तहत उनकी कृतियों की राहों से गुजरते हुए उनके समीक्षाधर्म के मौलिक प्रदेय की पहचान-परख का प्रयास किया गया है। निष्कर्ष के रूप में यह तथ्य रेखांकित किया गया है कि उपजीव्य समीक्षक ने सदैव अतिवादों से बचते हुए सर्जनात्मक साहित्य के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को कायम रखा है। उन की रचनाओं में अन्तर्निहित लोकोन्मुखता तथा इन्सानी संलग्नता के विविध आयामों का अन्वेषण इस शोध कार्य की मौलिक दिशा मानी जा सकती है। मेरा विनम्र विचार है कि नामवर जी की रचनात्मक ऊर्जा की यह पडताल, उनकी समीक्षा-पद्धति की सही पहचान केलिए ही नहीं, अपितु हिन्दी आलोचना के समकालीन परिदृश्य के समग्र विवेचन के लिए भी प्रयोजनप्रद सिद्ध होगा।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

संदर्भ ग्रंथ-सूची

आधार ग्रंथ : डॉ. नामवर सिंह की कृतियाँ

1.	आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,	2001
2.	इतिहास और आलोचना	,,	1986
3.	कहानी : नयी कहानी	,,	1994
4.	कविता के नये प्रतिमान	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,	1993
5.	छायावाद	,,	2004
6.	दूसरी परंपरा की खोज	,,	1989
7.	वाद विवाद संवाद	,,	2000
8.	कहना न होगा (साक्षात्कार संग्रह-सं.समीक्षा ठाकुर)	,,	1994

उपस्कर ग्रंथ

1. अनुसंधान प्रविधि — एस.एन. गणेशन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986

2. आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धांत — रामलाल सिंह, कर्मभूमि प्रकाशन, सं.2015

3. आधुनिक साहित्य — नंददुलारे वाजपेयी, भारती भण्डार, इलाहाबाद,2002

4. आधुनिक हिन्दी आलोचना - एक अध्ययन - डॉ.मखनलाल शर्मा, साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, 1982

5. आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास - डॉ.वेंकट शर्मा, आत्माराम एण्ड सन्स, 1962

6. आधुनिक पाश्चात्य काव्य और समीक्षा के उपादान - नरेन्द्रदेव शर्मा, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, दिल्ली, 1971

7. आधुनिक हिन्दी आलोचना पर पाश्चात्य प्रभाव - रामचन्द्र प्रसाद, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1973

8. आलोचक और आलोचना — कमला प्रसाद, आधार प्रकाशन, पंचकूला, 2002

9. आलोचक और आलोचना — बच्चन सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1968

10. आलोचना और आलोचना — देवी शंकर अवस्थी, प्रज्ञा प्रकाशन,कानपूर, 1961

11.	आलोचना इतिहास तथा सिद्धांत	एस.पी. खत्री राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1964
12.	आलोचना और समकालीन रचना	रामस्वरूप द्विवेदी प्रतिभा प्रकाशन, 1988
13.	आलोचना और साहित्य	इन्द्रनाथ मदान नीलाभ प्रकाशन, 1964
14.	आलोचना की साखी	अरविंद त्रिपाठी किताब घर, 2000
15.	आलोचना के बदलते मानदण्ड	शिवकरण सिंह किताब महल, 1977
16.	आलोचना के प्रगतिशील आयाम	शिवकुमार मिश्र पंचशील प्रकाशन,1987
17.	आलोचना की नयी तलाश	राघव प्रकाश साहित्य सागर, 1987
18.	आलोचना के मान	शिवदान सिंहचौहान स्वराज प्रकाशन, 1999
19.	आलोचक नामवर सिंह	सं. डॉ. रणधीरसिंहा पक्षधर प्रकाशन, 1977
20.	आज का हिन्दी साहित्य : संवेदना दृष्टि	राजेन्द्र प्रसाद शर्मा वाणी प्रकाशन, 1997

21. आस्था के चरण — डॉ. नगेन्द्र
नाशनल पब्लिशिंग हाउस,दिल्ली,1968

22. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना — रामविलास शर्मा
रामकमलप्रकाशन, दिल्ली, 1973

23. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल- आलोचना का अर्थ : अर्थ की आलोचना - रामस्वरूप चतुर्वेदी
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,2001

24. एक साहित्यिक की डायरी — गजानन माधव मुक्तिबोध
भारतीय ज्ञानपीठ, 1964

25. कबीर — आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
हिन्दीग्रंथ रत्नाकर, 1981

26. कला, साहित्य और संस्कृति — माओ त्से तुंग, सं.शिवकुमार मिश्र
वाणी प्रकाशन, 1994

27. कुछ विचार — प्रेमचन्द
सरस्वती प्रेस, 1989

28. कामायनी एक पुनर्विचार — गजानन मुक्तिबोध
हिमांशु प्रकाशन,जबलपुर,1961

29. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध - — जयशंकर प्रसाद
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1980

30. चिंतामणि भाग-। — रामचन्द्र शुक्ल
इण्ड्यन प्रेस, प्रयाग, 1973

31.	छायावाद और प्रगतिवाद	देवेन्द्र शर्मा ग्रंथ माला,पटना, 2000
32.	दर्शन साहित्य और समाज	शिवकुमार मिश्र वाणी प्रकाशन, 2000
33.	नव्य हिन्दी समीक्षा	डॉ.कृष्ण वल्लभ जोशी, ग्रंथम्, कानपूर, 1966
34.	नामवर के विमर्श	सुधीश पचौरी पत्रवीण प्रकाशन, 1995
35.	नामवरसिंह - आलोचनाकी दूसरी परंपरा	कमला प्रसाद वाणी प्रकाशन, 2002
36.	नामवर सिंह आलोचना के रचना पुरुष	भरत यायावर वाणी प्रकाशन, 2003
37.	नामवर सिंह व्यक्ति और आलोचक	कमलाप्रसाद परिमल प्रकाशन, 1988
38.	नई कविता के प्रतिमान	लक्ष्मीकांत वर्मा भारतीप्रेस,
39.	निराला की साहित्य साधना	रामविलास शर्मा राजकमल प्रकाशन, 1992
40.	पल्लव	सुमित्रानंदन पंत
41.	परिमल	निराला

42. पश्चिमी आलोचनाशास्त्र — लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय
हिन्दी समिति सूचना विभाग, 1965

43. पाश्चात्य समीक्षा दर्शन — जगदीशचन्द्र जयन
हिन्दी प्रचारक संस्थान, 1973

44. पाश्चात्य समीक्षा सिद्धांत — केसरी नारायण शुक्ल
नन्दकिशोर एण्ड सन्स, 1960

45. पाश्चात्य मिीक्षा ाकी रूप रेखा — प्रताप नारायण टंडन
राजपाल एण्ड सन्स, 1970

46. पाश्चात्य साहित्य आलोचना और हिन्दी पर उसका प्रभाव - रवीन्द्र सहाय वर्मा,
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वारणासी,1967

47. प्रगतिवाद और समानान्तर साहित्य — रेखा अवस्थी
माक्मिलन कं. ऑफ इण्डिया लि.1978

48. प्रगतिवाद एक समीक्षा — धर्मवीर भारती
साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1969

49. प्रगतिवादी काव्य साहित्य — डॉ. कृष्णलाल हंस
मध्य प्रदेश साहित्य अकादमी1971

50 . प्रगतिवादी समीक्षक — रामप्रदास त्रिवेदी
ग्रंथम् कानपूर, 1964

51. प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड — रांगेय राघव
सरस्वती पुस्तक सदन, 1954

52.	प्रेमचंद : विरासत का सवाल	शिवकुमार मिश्र वाणी प्रकाशन, 1994
53.	प्रेमचंद युग	रामविलास शर्मा मेहरचन्द मुंशिराम प्रकाशन, दिल्ली,1955
54.	भारतीय काव्यशास्त्र	डॉ. योगेन्द्र प्रताप सिंह लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,1985
55.	भारतीय साहित्यशास्त्र	बलवेद उपाध्याय प्रशासन परिषद्, 2001
56.	महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण	डॉ. रामविलास शर्मा राजकमल प्रकाशन, 1977
57.	मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य	डॉ.रामविलास शर्मा, वाणी प्रकाशन, 2002
58.	मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र की भूमिका	रोहिताश्व राधाकृष्ण प्रकाशन,1991
59.	मिश्रबन्धु विनोद	मिश्रबन्धु गंगा ग्रन्थकार, 1968
60.	मुक्तिबोध रचनावली	नेमीचन्द्र जैन राजकमल प्रकाशन, 1982
61.	मेरी प्रिय कहानियाँ	निर्मल वर्मा राजपाल एण्ड सन्ज, 1993

62.	रामचंद्र शुक्ल	मलयज राजकमल प्रकाशन,1987
63.	वर्तमान साहित्य (शताब्दी आलोचना पर एकाग्र)	अरविंद त्रिपाठी समीक्षा प्रकाशन, 2002
64.	शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना पर पाश्चात्य प्रभाव	डॉ.सत्यदेव मिश्र प्रकाशन संस्थान, 1980
65.	शोध प्रविधि और प्रक्रिया	रामकुमार खण्डेलवाल जवाहर पुस्तकालय, मधुरा, 1979
66.	समकालीन हिन्दी आलोचना औरआलोचक	डॉ. रामबक्ष हरियाना साहित्य अकादमी, 1991
67.	समकालीन हिन्दी आलोचना	परमानन्द श्रीवास्तव साहित्य अकादमी, 1998
68.	समकालीन हिन्दी साहित्य	वेद प्रकाश अमिताभ जवाहर पुस्तकालय, 1973
69.	संस्कृति और साहित्य	रामविलास शर्मा राजकमल प्रकाशन, 1969
70.	संजयिता नामवर सिंह	नन्दकिशोर नवल राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2002
71.	समीक्षा की समस्याएँ	मुक्तिबोध राजकमल प्रकाशन, 1982

72.	समीक्षाशास्त्र के भारतीय मानदण्ड	डॉ.रामसागर त्रिपाठी अशोक प्रकाशन, 1990
73.	समसामयिक साहित्य	राजकुमार सैनी वाणी प्रकाशन, 1999
74.	साहित्य की समस्याएँ	शिवदान सिंह चौहान स्वराज प्रकाशन, 2002
75.	साहित्कि अनुसंधान के आयाम	डॉ.रवीन्द्र कुमार नाशनलपब्लिशिंग हाउस, 1984
76.	साहित्य एवं शोध- कुछ समस्याएँ	डॉ.देवराज उपाध्याय अनुपम प्रकाशन, 1970
77.	साहित्यिक अनुसंधान	डॉ. नगेन्द्र सूर्य प्रकाशन, 1989
78.	साहित्य समीक्षा के पाश्चात्य मानदण्ड	राजेन्द्र वर्मा मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 1970
79.	साहित्य और इतिहास दृष्टि	मैनेजर पाण्डेय वाणी प्रकाशन, 2000
80.	सिलसिला	मधुरेश प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, 1979
81.	सृजन और अंतरानुशासनीय परिप्रेक्ष्य	वीरेन्द्र सिंह राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 1985

82. हजारीप्रसाद द्विवेदी — सं.विश्वनाथ तिवारी
नाशनल पब्लिशिंग हाउस, 1981

83. हिन्दी आलोचना — विश्वनाथ त्रिपाठी
राजकमल प्रकाशन, 1999

84. हिन्दी आलोचना का विकास — मधुरेश
सुमिता प्रकाशन,2004

85. हिन्दी आलोचना के नवरत्न — अरविंद त्रिपाठी
शिल्पायन, दिल्ली,

86. हिन्दी आलोचना की परंपरा और आचार्य शुक्ल - डॉ. शिवकुमार मिश्र
वाणीप्रकाशन, 2002

87. हिन्दी आलोचना की पहचान — डॉ.राजकमल बोहरा
कादम्बरी प्रकाशन, 1994

88. हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास — भगवत् स्वरूप मिश्र
साहित्य सदन, दहरादून, 1973

89. हिन्दी आलोचना के आधारस्तम्भ — रामेश्वरलाल खण्डेलवाल
सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा, 1966

90. हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी — डॉ. निर्मला जैन
राधाकृष्ण प्रकाशन, 2000

91. हिन्दी कहानी - अस्मिता की तलाश — मधुरेश
आधार प्रकाशन, 1980

92. हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना
जनेश्वर शर्मा
ग्रन्थम, कानपूर, 1974

93. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास
भगीरथ मिश्र
लखनऊ विश्वविद्यालय, 2005

94. हिन्दी साहित्य का इतिहास
डॉ.नगेन्द्र
मयूर पेपर बाक्स, 2005

95. हिन्दी साहित्य का इतिहास
अचार्य रामचन्द्र शुक्ल
नागरी प्रचारिणी सभा, 1984

96. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास
हजारीप्रसाद द्विवेदी
राजकमल प्रकाशन, 1984

97. हिन्दी साहित्य की भूमिका
हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, 1963

98. हिन्दी साहित्य- बीसवीं शताब्दी
नंददुलारे वाजपेयी
लोकभारती प्रकाशन, 1970

99. हिन्दी साहित्य का सर्वेक्षण
विश्वम्भर मानव
लोकभारती, 1979

100. हिन्दी साहित्य के विविध वाद
डॉ.प्रेमनारायण शुक्ल
लोकभारती प्रकाशन, 1970

101. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास
उमेष शास्त्री
देवनागर प्रकाशन, 1978

102. हिन्दी साहित्य विविध प्रसंग — वेदप्रकाश अमिताभ, अमर प्रकाशन, 1981

103. हिन्दी साहित्य की जनवादी परंपरा — प्रकाशचन्द्र गुप्त, किताब महल, 1953

104. हिन्दी साहित्य का अतीत — विश्वनाथ प्रसाद, वाणी प्रकाशन, 2000

105. हिन्दी साहित्य विविध प्रसंग — मत्स्येन्द्र शुक्ल, आचार्यप्रकाशन, 1990

अंग्रेजी ग्रंथ

106. A History of Modern Criticism — Wellek Rane, Jonathan Cape, London, 1950

107. Dictionary of Philosophy — I. Frolov, Progress Publishers, Moscow,1967

108. Literary Criticism — Lionel Trilling, 1970

109. Literary Criticism-A Short History — J.R. Vinsatt, I.B.H. Publishing Co. Ltd. Delhi,1970

पत्र-पत्रिकाएँ

1. आलोचना — अक्तूबर - दिसंबर 1967, अप्रैल - जून 2000, जुलाई - सितम्बर 2001, अक्तूबर - दिसम्बर 2001, जनवरी - मार्च 2002

2.	इन्द्रप्रस्थ भारती	अप्रैल - जून 1990
3.	तद्भव	अप्रैल 2000
4.	दस्तावेज	जुलाई - सितम्बर 1991 अप्रैल - जून 2001
5.	पूर्वग्रह	मई - अगस्त 1981 मई - अगस्त 1987
6.	मधुमती	दिसम्बर 1999
7.	साक्षात्कार	सितम्बर - अक्तूबर 1994
8.	समकालीन भारतीय साहित्य	अक्तूबर - दिसम्बर 1987
9.	सारिका	सितम्बर 1988 अक्तूबर 1988 नवम्बर 1988 दिसम्बर 1988
10.	हंस	अगस्त - सितम्बर 1997

अंग्रेजी पत्रिका

11.	Indian Literature	July – December 1992